UGC CARE LISTED
(Arts & Humanities)
ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
DP-19

वैदिक वाग् ज्योतिः
Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed/Peer-Reviewed
Research Journal on Vedic Studies
(UGC Approved Half Yearly Journal)

Vol./वर्ष-10 January-June 2022 No./ अंक 18

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेदविभाग

गुरुकुल कांगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri (Deemed to be University)
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
(UGC CARE listed half yearly journal)
January-June 2022

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Patrons

Dr. Satyapal Singh, Chancellor, GK(DU), Haridwar
Prof. Roop Kishor Shastri,
Vice-Chancellor, GK(DU), Haridwar

Chief Editor

Prof. Dinesh Chandra Shastri
Head, Dept. of Veda, GK(DU),
Haridwar-249 404 (U.K.) India
Email - dineshcshastri@gmail.com
Tel : +91-9410192541

Advisory Board

Prof. Nicholas Kazanas 'Padm Shri', Athens
Prof. Balram Singh, USA
Dr. Rajendra Ayurvedalankar, Haridwar
Prof. Maan Singh, Roorkee
Prof. Shashi Tiwari, 'President Awardee', Delhi
Prof. Shashi Prabha Kumar, Delhi
Prof. Lekhram Sharma, Amritsar
Prof. Ishwar Bharadwaj, Haridwar
Prof. Bheem Singh, Kurukshetra
Prof. Upendra Kumar Tripathi, Varanasi
Prof. Rajendra Vidyalankar, Kurukshetra
Prof. Vedpal (Meerut)
Prof. Kamalesh Chaukashi, Ahamedabad
Prof. Renubala, Amritsar
Prof. M.R. Verma, Haridwar
Prof. Pankaj Madan, Haridwar
Prof. L.P. Purohit, Haridwar
Dr. Aparna Dhir, USA
Dr. Anju Kumari
Dr. R.G. Murli Krishna, Delhi
Dr. Udham Singh

Distinguished Advisors

Acharya Balkrishna,
V.C., Patanjali University
Prof. Devi Prasad Tripathi,
V.C., U.S. University
Prof. Suneel Joshi,
V.C., U.A. University

Departmental Advisory Board

Prof. Manudev Bandhu

Reviewers

Acharya Balveer, Rohtak
Dr. S.P. Singh, Delhi

Finance Advisor

Prof. V.K. Sing, F.O.
Sh. Naveen Kumar

Business Manager

Department of Veda & Librarian
GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Subscription

Rs. 1200.00 Annual, US $ 120,
Single Copy: Rs. 600.00
Rs. 5000.00 Five Year's
Payment Mode :
D.D. in favour of Registrar,
G.K.V. Haridwar (U.K.)

Published by

Prof. Sunil Kumar
Registrar, GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Printed at

D.V. Printers
97-U.B., Jawhar Nager, Delhi-110007
Mob.: 09990279798, 09818279798

UGC CARE listed (Arts & Humanities)
ISSN : 2277-4351
RNI : UTTMUL 2012/53882

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

(UGC Approved Half Yearly Journal)

Vol./वर्ष–10 **January–June 2022** **No./अंक 18**

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी (समविश्वविद्यालय) हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Deemed to be University
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

वैदिक वाक्

भग॒ प्रणे॑त॒र्भग॒ सत्य॑राधो॒ भगे॒मां धिय॒मुद॑व॒ ददन्नः।
भग॒ प्र नो॑ जनय॒ गोभि॒रश्वै॒र्भग॒ प्र नृभि॑र्नृ॒वन्तः॑ स्याम॥-यजु. 34/36

पदार्थः-(भग) ऐश्वर्ययुक्त! (प्रणेतः) पुरुषार्थं प्रति प्रेरक (भग) ऐश्वर्यप्रद! (सत्यराधः) सत्सु साधूनि राधांसि धनानि यस्य तत्सम्बुद्धौ (भग) भजनीय! (इमाम्) वर्त्तमानाम् (धियम्) प्रज्ञाम् (उत्) (अव) रक्ष। अत्र द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० 6.3.135] इति दीर्घः। (ददत्) ददानः (नः) अस्माकम् (भग) विद्यैश्वर्यप्रद! (प्र) (नः) अस्मान् (जनय) प्रकटय (गोभिः) धेन्वादिभिः (अश्वैः) अश्वादिभिः (भग) भजमान! (प्र) (नृभिः) नायकैः (नृवन्तः) (स्याम) भवेम।

अन्वयः-हे भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भग! त्वं नोऽस्माकमिमां धियं ददत् सदुदव। हे भग! त्वं गोभिरश्वैर्नृभिस्सह नोऽस्मान् प्रजनय। हे भग! येन वयं नृवन्तः प्रस्याम तथा विधेहि।

भावार्थ-मनुष्यैर्यदा यदेश्वरस्य प्रार्थना विदुषां सङ्गः क्रियेत, तदा प्रज्ञैव याचनीयोतापि सन्तः पुरुषाः।

पदार्थ-हे (भग) ऐश्वर्ययुक्त! (प्रणेतः) पुरुषार्थ के प्रति प्रेरक ईश्वर वा हे (भग) ऐश्वर्य के दाता! (सत्यराधः) विद्यमान पदार्थों में उत्तम धनों वाले (भग) सेवने योग्य विद्वान् आप (नः) हमारी (इमाम्) इस वर्त्तमान (धियम्) बुद्धि को (ददत्) देते हुए (उत्, अव) उत्कृष्टता से रक्षा कीजिये। हे (भग) विद्यारूप ऐश्वर्य के दाता ईश्वर वा विद्वान्! आप (गोभिः) गौ आदि पशुओं (अश्वैः) घोड़े आदि सवारियों और (नृभिः) नायक कुलनिर्वाहक मनुष्यों के साथ (नः) हमको (प्र, जनय) प्रकट कीजिये। हे (भग) सेवा करते हुए विद्वन्! जिससे हम लोग (नृवन्तः) प्रशस्त मनुष्यों वाले (प्रस्याम) अच्छे प्रकार हों, वैसे कीजिये।

भावार्थ- मनुष्यों को चाहिये कि जब-जब ईश्वर की प्रार्थना तथा विद्वानों का सङ्ग करें, तब-तब बुद्धि की ही प्रार्थना वा श्रेष्ठ पुरुषों की चाहना किया करें॥

द.भा.

वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्

नाना-तर्कैर्वितर्कैर्विबुध-जनमतैर्भूषयल्लेखमालाः
शास्त्राणां दर्शनानां निगमपथजुषां ब्राह्मणानां बहूनाम्।
वाक्यैः सिद्धान्तनिष्ठैः समम् उपनिषदां तत्त्वमाधातुकामम्
वाग्ज्योतिर्वैदिकं तत् प्रसरतु भुवने ज्ञानविज्ञानदं नः॥1॥ (स्रग्धरा)

विद्वद्व्यूहविचारसारसहितं यत् प्राच्यविद्याऽऽश्रितम्
अज्ञानाऽन्धतमोनिवारणपरं सद्-बुद्धिशुद्धि-प्रदम्।
शोधोद्योगपरायणा बुधजना जानन्तु तद् दीपकम्
वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्॥2॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

—प्रशस्यमित्रशास्त्रिणः

अनुक्रम

वैदिक वाक् *iii*

Editorial - *vii*
अथर्ववेद के 20 वें काण्ड से सम्बन्धी विप्रतिपत्ति और उसका निराकरण

कोविदीयम्

1. **वेदानां पुनः प्रसारोपायाः** 1
–स्व. पं. युधिष्ठिरमीमांसकः

2. **वेदविमर्शः** –प्रो. हरिश्चन्द्र रेणापुरकरः 8

हिन्दी संभाग

3. **महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षापद्धति का व्यावहारिक पक्ष : एक दृष्टि (व्यवहारभानु के विशेष संदर्भ में)** 23
– डॉ. पुष्पेन्द्र जोशी
– अनामिका

4. **श्रीअरविन्द का समग्र योगः एक दृष्टिपात** 30
–डॉ. श्रुति मिश्रा

5. **वाक्यार्थ-बोध में उद्देश्य-विधेय की महत्ता** 39
–रामचन्द्र मेघवाल

6. **'गणरत्नमहोदधि' में वैदिक एवं साहित्यिक-प्रयोग (अव्यय-गण के सन्दर्भ में)** 49
–डॉ० रामचन्द्र
–सीमा रानी

7. **उपनिषदों का विश्लेषणात्मक अध्ययन** 54
–प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
–चन्द्रगुप्तः, शोधच्छात्र

8. **उपनिषदों में वर्णित उपासना पद्धतियां** 64
–डॉ. विजेन्द्र प्रकाश कपरूवान

9. **वेद और उपनिषदों में व्यक्तित्व के प्रकार** 78
–डॉ. अंजू कुमारी

10. **महर्षि दयानन्द का वेदप्रामाण्यविषयक मत** 85
–डॉ० देवीसिंह

11. **उपनिषदों में वर्णित ईश्वर का स्वरूप** 91
–स्वामी परमार्थदेव

12. **वैदिक वाङ्मय में ऋतु विवेचन** 105
–देवप्रकाश

संस्कृत-संभागः

13. **न्यायव्याकरणयोः शाब्दबोधविचारः** 117
–राम किशोरः

English Section

14. **Dayānanda Saraswatī-The First Discoveror of The Right Clue** - Gautam Patel 126

15. **Contribution of Western Scholars to Vedic Interpretation : An Analysis** 135
-Professor Shashi Tiwari

✦✦✦

Editorial

अथर्ववेद के 20 वें काण्ड से सम्बन्धी विप्रतिपत्ति और उसका निराकरण

अथर्ववेद का 20 वां काण्ड अन्य काण्डों की अपेक्षा अधिक गहन है। मन्त्रों में स्थान-स्थान पर अति अप्रसिद्ध शब्द मिलते हैं। इस काण्ड पर न तो सायणाचार्य का भाष्य है, और न किसी अन्य प्राचीन आचार्य का। अथर्ववेद के अंग्रेजी अनुवादों में भी 20वें काण्ड का अनुवाद नहीं मिलता। इस कारण से कई विद्वान् यह मानने लगे हैं कि अथर्ववेद का समग्र 20 वां काण्ड मूल अथर्ववेद का अवयव नहीं। यह 20 वां काण्ड अथर्ववेद में पीछे किसी काल में मिलाया गया है। मुझे यह बात कई दृष्टियों से सत्य प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इसमें जहां अथर्ववेद की अन्तःसाक्षी प्रमाण है वहीं गोपथब्राह्मण और वैतान सूत्र भी इस बात का प्रत्याख्यान करते हैं।

अथर्ववेद की अन्तःसाक्षी - अथर्ववेद की अन्तःसाक्षी के रूप में मैं इस वेद के 19वें काण्ड के 23वें सूक्त को प्रस्तुत करना उचित समझता हूं। इस सूक्त के **चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा** (मन्त्र 1) से आरम्भ कर, उत्तरोत्तरक्रम से **अष्टादशर्चेभ्यः स्वाहा** (मन्त्र 15) तक के मन्त्रों द्वारा ऐसे सूक्तों के प्रति **स्वाहा** कहा है, जिन सूक्तों में कि चार ऋचाओं से लेकर उत्तरोत्तर एक- एक ऋचा के वृद्धि-क्रम से 18 ऋचाएं हैं। मन्त्र 16 वां है- **एकोनविंशतिः स्वाहा**, तथा मन्त्र 17 वां है- **विंशतिः स्वाहा**, तथा मन्त्र 18 वां है- **महत्काण्डाय स्वाहा।** परन्तु समग्र अथर्ववेद में ऐसा कोई सूक्त नहीं जिसमें कि 19 मन्त्र हों। और न ही मन्त्र 01 से 15 तक के मन्त्रों में चतुर्थी विभक्ति के सदृश 16 वें और 17 वें मन्त्र में चतुर्थी विभक्ति है। इस वैषम्य से यह ध्वनित होता है कि **एकविंशतिः** तथा **विंशतिः** पद किन्हीं सूक्तों का निर्देश नहीं करते, अपितु ये पद 19 वें काण्ड तथा 20 वें काण्ड का निर्देश करते हैं। जैसे समग्र अथर्ववेद में 19 मन्त्रों वाला कोई सूक्त नहीं, वैसे अथर्ववेद के 01 से 19 काण्डों तक में 20 मन्त्रों का भी कोई सूक्त नहीं। अथर्ववेद के 20 वें काण्ड में केवल 04 सूक्त ऐसे हैं, जिनमें कि बीस-बीस मन्त्र हैं। यथा सूक्त 129; 130 और 131 में बीस-बीस मन्त्र हैं। परन्तु ये तीनों सूक्त खिल होने से प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि ये कुन्ताप सूक्तों के हैं। काण्ड 20 सूक्त 70 में भी 20 मन्त्र हैं। सम्भवतः **विंशतिः स्वाहा** (मन्त्र 17) बीसवें काण्ड के 70 वें सूक्त का निर्देश करता हो। यदि यह अनुमान

सत्य हो, तो यह मानना होगा कि 19 वें काण्ड के सत्ताकाल में 20 वां काण्ड भी अथर्ववेद का अविभाज्य अवयव था। परन्तु **एकोनविंशतिः स्वाहा** (16) मन्त्र की समस्या पूर्ववत् स्थित है, क्योंकि समग्र अथर्ववेद में 19 मन्त्रों का कोई सूक्त नहीं। तथा पूर्व मन्त्रों के सदृश चतुर्थी-विभक्ति के अभाव में **एकोनविंशतिः** शब्द द्वारा किसी सूक्त का ग्रहण भी सम्भव नहीं। इसलिए प्रतीत होता है कि **एकोनविंशतिः** शब्द 19 वें काण्ड का ही निर्देश करता है, और इसी चतुर्थी विभक्ति के अभाव के कारण **विंशतिः स्वाहा** (17) मन्त्र भी 20वें काण्ड का ही निर्देश करता है। **महत्काण्डाय स्वाहा** (18) मन्त्र **विंशतिःस्वाहा** (17) मन्त्र के अभिप्राय को ही परिपुष्ट करता प्रतीत होता है। 20 वां काण्ड वस्तुतः अथर्ववेद के शेष काण्डों से बडा है। इसीलिए 20वें काण्ड को महत्काण्ड कहा है। अथर्ववेद में सूक्त संख्या तथा मन्त्र संख्या की दृष्टि से दो काण्ड महाकाण्ड हैं। 6ठे काण्ड में 142 सूक्त हैं, और 454 मन्त्र। परन्तु 20 वें काण्ड में सूक्त 143 हैं, और मन्त्र 958 - इस सूक्त संख्या और मन्त्र संख्या में कुन्ताप सूक्त और उसके मन्त्र भी सम्मिलित हैं। कुन्ताप सूक्तों के कुल मन्त्र 147 हैं। यदि इन 147 मन्त्रों को न भी गिना जाय, तब भी 20 वें काण्ड की मन्त्रसंख्या 811 होती है। इस प्रकार मन्त्रसंख्या की दृष्टि से 20 वां काण्ड महाकाण्ड है।

बाह्यसाक्षी नं. 01- प्रो. राथ के कथनानुसार अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा के 13 वें काण्ड में,- अथर्ववेद के 20वें काण्ड के 34 वें सूक्त में पठित **स जनास इन्द्रः** पदों का निर्देश, कुछ पाठभेद के साथ किया है। इससे भी प्रतीत होता है कि पैप्पलाद शाखा के काल में अथर्ववेद के 20 वें काण्ड को अथर्ववेद का अंग माना जाता था।

बाह्यसाक्षी नं. 02- अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण 1 - 5 के अनुसार ब्रह्मा से 20 ऋषि उत्पन्न हुए, उन्होंने अथर्ववेद के 20 काण्ड साक्षात् किये। गोपथब्राह्मण के इस कथनानुसार ज्ञात होता है कि अथर्ववेद का 20 वां काण्ड अथर्ववेद का अविभाज्य अंग है।

इसी प्रकार वैतानसूत्रों में भी, अथर्ववेद के 20 वें काण्ड के मन्त्रों का विनियोग कर्मकाण्ड में किया गया है।

भ्रान्ति का कारण -

मूलतः अथर्ववेद 19 काण्डों का ही है, 20 वां काण्ड इस में पीछे किसी काल में मिलाया गया है, इस सम्बन्ध में कई वैदिक विद्वान् निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित करते हैं। जैसे-

स्तुता मया॑ वर॒दा वे॑दमा॒ता प्रचो॑दयन्तां पावमा॒नी द्वि॒जाना॑म्।
आयु॑ः प्रा॒णं प्र॒जां प॒शुं की॒र्तिं द्रवि॑णं ब्रह्मवर्च॒सम्।
मह्यं॑ द॒त्त्वा व्र॑जत ब्रह्मलो॒कम्; अथर्व.19/71/1
यस्मा॒त्कोशा॑दुद॒भरा॑म॒ वेद॒ं तस्मि॑न्नन्तर॑व॒ दध्म एनम्।
कृ॒तमि॒ष्टं ब्रह्म॑णो वी॒र्ये॑ण॒ तेन॑ मा देवा॒स्तप॑सावते॒ह॥

–अथर्व.19/72/1

अर्थात् मैंने वर देनेवाली वेदमाता का स्तवन कर लिया है। तुम इसका प्रवचन या प्रचार करो। यह द्विजों को पवित्र करती है, आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण और ब्रह्मतेज मुझे देकर ब्रह्मलोक जाओ।

जिस कोश से हमने वेद को उठाया था, उसी के अन्दर हम इसे रख देते हैं। ब्रह्म अर्थात् वेद के सामर्थ्य द्वारा हमने इष्ट सम्पादन कर लिया है। हे देवो! उस तप के द्वारा इस जीवन में, मेरी रक्षा करो।

इन उपर्युक्त दो मन्त्रों में तीन आपत्तियां हैं -

1. एक यह कि - **मैंने वेद माता का स्तवन कर लिया है।** इससे यह परिणाम निकलता है कि इससे आगे वेदमाता का स्तवन नहीं रहा, यहीं तक वेदमाता का अध्ययनाध्यापन समाप्त हो जाता है।

2. दूसरी आपत्ति यह है कि- **जिस कोश से हमने वेद को उठाया था, उसी के अन्दर हम इस वेद को रख देते हैं।** इससे भी यह परिणाम निकलता है कि इस वेद का अध्ययनाध्यापन पूर्ण हो चुका है, इसलिए इस वेद को हमने कोश में सुरक्षित रख दिया है।

3. तीसरी आपत्ति यह कि- **अथर्ववेद से हमने अपना इष्ट-सम्पादन कर लिया है**, अर्थात् जीवन में जो कुछ हमें चाहिए था, उसे हमने प्राप्त कर लिया है। अथर्ववेद द्वारा और किसी अभीष्ट का सम्पादन शेष नहीं रहा। इस प्रकार इन तीन वर्णनों से यह ही प्रतीत होता है कि अथर्ववेद की समाप्ति 19 वें काण्ड की समाप्ति तक हो जाती है, अर्थात् 20 वां काण्ड अथर्ववेद का मौलिक अवयव नहीं।

इन तीनों आपत्तियों पर यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय, तो परिणाम अन्य प्रकार का प्रतीत होने लगता है-

1. प्रथम मन्त्र में वेद-स्तवन का फल दर्शाया है- सात विषयों का परिज्ञान, अर्थात् आयु: सम्बन्धी विज्ञान, प्राणसम्बन्धी विज्ञान, प्रजासम्बन्धी विज्ञान, पशुसम्बन्धी विज्ञान, कीर्त्ति अर्थात् यश:सम्पादनसम्बन्धी विज्ञान, तथा द्रविण अर्थात् धनोपार्जन

सम्बन्धी विज्ञान, और ब्रह्मज्योतिःसम्बन्धी विज्ञान है। इन विज्ञानों में से छह तो लौकिक विज्ञान हैं, और एक आध्यात्मिक विज्ञान। इससे ज्ञात होता है कि अथर्ववेद के 01 से 19 तक के काण्डों में लौकिक बुद्धि वाले अध्येताओं के लिए प्रधानतया लौकिक विज्ञानों का ही प्रतिपादन हुआ है, और उन लौकिक बुद्धिवाले अध्येताओं के लौकिक विज्ञानों को थोडा आध्यात्मिक विज्ञान का भी पुट दे दिया है। यही लौकिक भावना **कृतमिष्टम्** द्वारा भी सूचित की गई है। **इष्ट** का अर्थ यज्ञ कर्म भी है, जैसे कि **इष्टापूर्त** शब्द में **इष्ट** का अर्थ है। तथा **इष्ट** का अर्थ **एषणाओं के विषय** भी होता है। सांसारिक लोग धनैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा(कीर्त्ति,यश) के वशीभूत होते हैं। इन्हें **ब्रह्मवर्चस्** द्वारा यत्किंचित् ब्रह्मसम्बन्धी विज्ञान भी दिया गया है, ताकि ये इन एषणाओं से उठकर अगले आश्रम की ओर पग बढा सकें। इस उद्देश्य से, तथा जो सत्कर्मा व्यक्ति इन लौकिक एषणाओं पर विजय पा चुके हैं। उन के लिए अध्यात्मविषय प्रधान बीसवां काण्ड है।

बीसवें काण्ड के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस काण्ड में अध्यात्मविषय प्रधान रूप से वर्णित है, और लौकिक विषय गौणरूप से। इसलिए सर्वसाधारण लौकिक बुद्धिवाले लोगों के लिए ज्ञेय तत्त्व 19 वें काण्ड तक समाप्त हो जाते हैं। ऐसे लोग 20वें काण्ड के विस्तृत अध्यात्म-विज्ञान के अधिकारी नहीं। परन्तु अध्यात्मपरायण लोगों के लिए विस्तृत अध्यात्मज्ञान की आवश्यकता है, जिसकी पूर्त्ति 20 वें काण्ड द्वारा होती है।

इस समाधान की यथार्थता में यजुर्वेद का भी उद्धरण देना आवश्यक प्रतीत होता है। यजुर्वेद कर्मप्रधान वेद है,- यह सर्वप्रसिद्ध है। इसमें चालीस अध्याय हैं। एक से अडतीस अध्यायों में मुख्यरूप में कर्मकाण्ड का वर्णन हुआ है, परन्तु बीच-बीच में गौणरूप से अध्यात्मविषयों का भी वर्णन हुआ है। 39 वें अध्याय में प्रायः अन्त्येष्टि-संस्कार के मन्त्र हैं। 39 वें अध्याय के अन्त्येष्टि-सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा यह दर्शाया है कि 1-38 अध्यायों के कर्मकाण्ड की समाप्ति के साथ मानुषजीवन की भी अन्त्येष्टि हो जाती है, अर्थात् इससे आगे कर्मकाण्डी के लिए और कोई कर्त्तव्य नहीं रहता। परन्तु जो व्यक्ति कर्मकाण्ड द्वारा अपने मनों और आचरणों को पवित्र कर अध्यात्ममार्ग का अवलम्बन करना चाहते हैं, उनकी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए यजुर्वेद के 40 वें अध्याय की आवश्यकता थी। इसलिए कर्मकाण्ड की दृष्टि से चाहे यजुर्वेद की समाप्ति 39 वें अध्याय की समाप्ति तक समझी जाय, परन्तु अध्यात्मज्ञानाभिलाषी के लिए यजुर्वेद की समाप्ति 40वें अध्याय पर ही होती है। तथा ऐसे अध्यात्मज्ञानी के शरीर की समाप्ति भी अन्त्येष्टि संस्कार द्वारा ही होनी चाहिए,- इसकी सूचना **भस्मान्तं शरीरम् (40/15)** द्वारा दी गयी है। इसी 40 वें

अध्याय के अनुसार प्रसिद्ध **ईशावास्योपनिषद्** की रचना हुई है, और यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के अध्यात्म विज्ञान के अनुसार **बृहदारण्यकोपनिषद्** की रचना हुई है।

इसलिए यजुर्वेद का 40 वां अध्याय जिस प्रकार यजुर्वेद का ही अन्तिम अध्याय है, इसी प्रकार अथर्ववेद का 20 वां काण्ड भी अथर्ववेद का अन्तिम काण्ड है, अर्थात् मौलिक अवयव है। ऐसा अथर्ववेद के बीसवें काण्ड की आध्यात्मिक व्याख्या करने वाले प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार ने लिखा है।

-प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 18 (1-7) January-June 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

वेदानां पुनः प्रसारोपायाः

-स्व. पं. युधिष्ठिरमीमांसकः

वेदानां पुनः प्रसारोपायचिन्तनात् पूर्वमेतद्विज्ञातव्यं यत्किमत्र कारणं यस्मात् परमविद्यानाम् आकरभूतानाम् अपि वेदानां प्रसार उत्तरोत्तरं न्यूनतां भजत इति। **'नहि रोगनिदानमविज्ञाय चिकित्सा प्रवर्तते'** इति न्यायानुसारं वेदप्रसारह्रासकारणविज्ञाते सत्येव तत्प्रसारोपायानां चिन्ता सम्भवति। तस्मात् प्रथमं वेदज्ञानस्य ह्रासकारणान्युच्यन्ते। तत्र कानिचित् कारणानि भारतीयपरम्पराप्रसूतानि सन्ति, कानिचिच्च साम्प्रतिकैर् ईसाई-यहूदी-मताग्रहगृहीतैः पाश्चात्यविद्वद्भिरुत्पादितानि। तत्र तावत् भारतीयपरम्पराप्रसूतानि वेदज्ञानस्य ह्रास-कारणानि–

1. वेदाध्ययनस्य श्रौतकर्मानुष्ठादिष्वदृष्टोत्पादनमेव फलम्। केवलमदृष्टार्थम्, न तस्य दृष्टफलार्थतेत्येकम्।

एतन्मतस्य प्रसारात् केषाञ्चिद् याज्ञिकानां मते **'मन्त्रा अनर्थकाः**[1]**'** इत्येतन्मतं प्रचारमलभत। तेन वेदानां मानवजीवनेन सह यः साक्षात् सम्बन्ध आसीत्, स प्रणष्टः। तन्नाशाद्वेदाध्ययनमनर्थकं मन्यमानास्तं प्रायेण परिहापितवन्तः।

2. वेदाः केवलं यज्ञार्थं प्रवृत्ताः, नातोऽन्यद् किमपि तेषां प्रयोजनमिति **द्वितीयम्।**

एतन्मतस्य प्रादुर्भावाद्वेदानामाधिदैविकाध्यात्मिकयोर्विज्ञानयोः साकं यः साक्षात् सम्बन्धो वर्तते, स नाशमुपगतः। तन्नाशाद् वेदा निष्प्रयोजनत्वमापन्नाः। तेन 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' इति न्यायाद् वेदाध्ययनाद् ग्लायन्तो वेदाध्ययनमत्यजन्।

3. यज्ञा अपि केवलमदृष्टार्था एव, न तेषामन्यत् किमपि लौकिकं प्रत्यक्षं फलमिति **तृतीयम्।**

एतन्मतस्य प्रसाराद्यज्ञानां **'सृष्टिविज्ञानपरिज्ञापनरूपस्य'** मुख्यस्य प्रयोजनस्य परित्यागात् साम्प्रतिकास्तर्कप्रधानाः श्रद्धाविरहिता मानवास्ततो ग्लायन्तो यज्ञान् अत्याक्षुः। यज्ञकर्मणां लोपाद् ब्राह्मणवृत्तेर्नाशः, तन्नाशात्तेषां वेदाध्ययनप्रवृत्तिरपि संकोचं प्राप्ता।

---

1. 'यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनायानर्थकं भवतीति कौत्सः, अनर्थका हि मन्त्रा इति'। निरुक्ते (1।15); पूर्वमीमांसायां (1।2।31, 39) च एतन्मतमुपस्थाय बहुभिर्हेतुभिर्निराकृतम्।

4. स्त्रीणां शूद्राणां च वेदश्रवणेऽपि नाधिकारः[1], कुतस्तदध्ययने धारणे चेति **चतुर्थम्।**

स्त्रीणां वेदाध्ययनप्रतिषेधात् पत्न्यो वेदज्ञानविरहिता अभूवन्। तासां च वैदिकज्ञानसंस्काराराहित्यात् ता अज्ञानावृतचेतसोऽजायन्त। तेन तासामपत्यान्यपि वैदिकसंस्कारविरहितानि समभूवन्। तेन कुलान्यकुलतां गतानि। शूद्राणां वेदश्रवणाधिकारस्याप्यपहरणाद्वैदिकसंस्काराराहित्याच्च ते आर्याः सन्तोऽप्यनार्याः संवृत्ताः। एवं मनुष्यसंख्यायाः स्त्रीरूपोऽर्धो भागः शूद्ररूपश्चान्यस्तदर्धो भागोऽर्थान्मानवसंख्यायाः 3/4 पादत्रयात्मको भागो वैदिकसंस्काराराहित्यादनार्यत्वं प्राप्नोत्। तदुक्तं भगवता मनुना–

'कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदाऽनध्ययनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणार्तिक्रमेण च॥ 3।63॥ इति।'

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥ 10।43॥ इति च।

यदा क्षत्रियजातयोऽपि वेदाऽनध्ययनेन वैदिकक्रियालोपैश्च वृषलत्वं गताः, तर्हि स्त्रीणां शूद्राणां तु का कथा, यत्राऽज्ञानान्धस एव साम्राज्यं विद्यते?

5. पाश्चात्यशिक्षायाः प्रभावेण तपोज्ञानोपेतानां **ब्राह्मणानामुपेक्षाऽनादरभावश्चेति पञ्चमम्।**

जगति किलैष नियमः– **'समाजे यादृशस्य पूजा भवति, सर्वो जनः तादृशमात्मानं भावयितुं यतते'** इति। अतएव पाश्चात्यशिक्षाप्रभावेण पाश्चात्यभाव-भाषादीक्षितानां धनिनां चानार्याणामपि सम्मानभावनायाः प्रसाराद् ब्राह्मणा अपि आंग्लभाषाध्ययनेन येन केन च प्रकारेण धनोपार्जनमेवात्मनः श्रेयः पश्यन्तः कुलपरंपरागतं वेदाध्ययनं पर्यत्याक्षुः।

अथेदानीं पाश्चात्यविद्वद्भिरुत्पादितानि तानि कारणानि समुपस्थाप्यन्ते, यैर्वेदप्रचारस्य सम्प्रति विशेषतो **ह्रासः** संजातः–

1. बहूनाम् ईसाईयहूदीमताग्रहगृहीतानां मैक्समूलरप्रभृतीनां विदुषाम् 'अनुसन्धानकर्म' व्याजेन वैदिकवाङ्मयविषये अनर्गलप्रलापद्वारा तन्निन्दापुरःसरं तत्राश्रद्धोत्पादनं **चेत्येकम्।**

अनेके पाश्चात्या विद्वांसः संस्कृतभाषायां वैदिकवाङ्मये च कं भावं मनसि निधाय प्रयत्नमकार्षुरित्यस्य ज्ञापकानि तेषां कतिपयवचनान्युद्ध्रियन्ते। येन पाश्चात्यविदुषां तथाकथितवेदानुसन्धान-कार्ये प्रवृत्तिर्विस्पष्टतां गमिष्यति। तत्र प्रथममतिप्रसिद्धस्य वैदिकवाङ्मये कृतपरिश्रमस्य मैक्समूलरस्यैव वचनान्युपस्थाप्यन्ते–

---

1. द्र.–'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणं, वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदः, धारणे शरीरभेद इति' (वे.द.शं. भाष्ये 1।3।38)। स्त्रीशूद्रौनाधीयाताम् इति च।

(क) 'वैदिकसूक्तानां एका महती संख्यैतादृशी वर्तते, या परमबालिशा जटिला अधमा साधारणी चास्ति' इति।[1]

(ख) 'मदीयो वेदानुवादो मदीयं (सायणभाष्यसहितम् ऋग्वेदस्य) संस्करणं चोत्तरकाले भारतस्य भाग्यविधानेऽत्यन्तं प्रभविष्यति। यतोऽयं (ऋग्वेदः) तेषां धर्मस्य मूलमस्ति। अहं निश्चयेनानुभवामि यद् (भारतीयधर्मस्य) इदं मूलं कीदृगस्तीत्यस्य निदर्शनं **गतत्रिसहस्त्रवर्षेषु समुपजायमानानां प्रभावाणां समूलोत्पाटनाय** एकः प्रधानभूत उपायोऽस्ति' इति।[2]

(ग) 'संसारस्य सर्वधर्मग्रन्थेषु नवीना-प्रतिज्ञा' (ईसाप्रोक्ता बाईबलनामा) ग्रन्थ उत्कृष्टो वर्तते। तदनुकुराननामा ग्रन्थ, य आचारशिक्षायां नवीनप्रतिज्ञाया एव रूपान्तरमस्ति, स्थापयितुं शक्यते। तत्पश्चात् प्राचीनाप्रतिज्ञा, दाक्षिणात्यं बौद्धपिटकम् वेदाः, अवेस्ता इत्येवमादयो ग्रन्थाः सन्ति।[3]

(घ) मैक्समूलरस्य वैदिकवाङ्मयकार्यं तन्मित्राण्यपि कया दृष्ट्याऽपश्यन्, तदर्थं ई.बी. पुसे-नामकेन तन्मित्रेण मैक्समूलराय प्रहितस्य पत्रस्य द्रष्टुमर्हमेतद्वचनम्-

'भवतामेतत् (=वेदविषयकं) कार्यं **भारतीयान् ईसाईमतानुयायिनो विधातुं क्रियमाणेषु प्रयत्नेषु नवयुगप्रवर्तकं** भविष्यति' इति।

(ङ) अलबर्टवेबरनामा प्राध्यापकः प्राह- 'कृष्णस्य मतं, यस्य प्रभावः सम्पूर्णे महाभारते व्याप्तोऽस्ति, द्रष्टुमर्हं वर्तते। तत्तत्र ईसाईकथाया अपरपाश्चात्यमतस्य प्रभावं चोपस्थापयति' इति।[4]

(च) अत एव ईसाईमतपक्षपातिनोऽनेके विद्वांसः-'महाभारतग्रन्थ ईसाप्रादुर्भावादुत्तरं चतुर्थशत्यां संग्रथितः'-इति लिखन्ति।

(छ) मोनियरविलियम्सनामा प्राध्यापको, येन संस्कृताङ्गलभाषाया महान् कोशो निर्मितः, स स्वकोशरचनाप्रयोजनं तदुपोद्घात इत्थं प्रदर्शयति-

'यदिदं संस्कृताङ्गलभाषाकोषनिर्माणकार्यं संस्कृतग्रन्थानुवादकार्य्यं च बोडननिक्षेपनिधि (ट्रस्ट) द्वारा सम्पाद्यते, तद् **भारतीयान् ईसाईमते दीक्षयितुं प्रवृत्तानां साहाय्यप्रदानायैव क्रियते**' इति।

सत्येवं, को नाम विपश्चित् मैक्समूलरादीनाम् अनुसंधानमिषेण कृते कार्ये विश्वसेत्? आधुनिकाः पाश्चात्यशिक्षादीक्षिता भगवद्वचनमिव पाश्चात्यविदुषां मतेषु

---

1. मैक्समूलरस्य भाषणम्, संख्या 4, सन्, 1882।
2. मैक्समूलरेण स्वपत्न्यै लिखितस्य (सन् 1866) पत्रस्यांशः।
3. मैक्समूलरः स्वपुत्राय प्रहिते पत्र एतद् वचनं लिखितवान्।
4. द्र.-संस्कृतसाहित्यस्येतिहासे (सुलभे संस्करणे, सन् 1914) 189 तमे पृष्ठे टिप्पणी।

श्रद्धधानाः **अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः** इति (मुण्ड. 2।9) न्यायानुसारं स्वयं नष्टा अपरानपि भारतीयान् नाशयन्ति।

2– भाषाविज्ञानमिषेण दैव्यां वाचि वैदिकवाङ्मये च भीषणप्रहारो **द्वितीयम्।**

पाश्चात्यैर्विद्वद्भिः कतिपयानां भाषाणां तुलनात्मकमध्ययनं कृत्वा **भाषाविज्ञाननामैकं** नूतनं मतमाविष्कृतम् यद्यपि तदत्यन्तं दोषपूर्णं विद्यते, तथापि तदाश्रित्य दैव्या वाचो भारोपीय-सर्वभाषाजननीत्वे विस्पष्टं प्रतीयमानेऽपि तां सर्वभाषाजननीरूप-स्वस्थानतः प्रच्यावयितुं भारोपीयनाम्ना कल्पितामसिद्धमूलां कांचन शशशृङ्गायमाणां भाषां वर्त्तमानानां भारोपीयभाषाणां जननीं स्वीकृत्य ग्रीक्लेटिन् भाषादिवत् तस्याः पौत्रस्थानी दैवी वाक् इति मतमुद्घोषयांचक्रुः।

नैतावदेव, अपितु यथा प्राकृताः पांशुलपादा जना अज्ञानेन सम्यगुच्चारणाऽसामर्थ्येन वा शिष्टव्यवहृतेषु शब्देषु वर्णलोपागमविकारविपर्ययादीन् कुर्वन्ति, कालान्तरे च स एवापशब्दराशिर्भाषापदं भजते, तथैवेयं दैवी वागपि कस्यांचित् पूर्वतन्यां भाषायां विकारं प्राप्य समुत्पन्नेति ब्रुवते।

अपरे ब्रुवते–पूर्वतन्यां कस्यांचित् प्राकृत-भाषायामेव संस्कारं विधाय ब्राह्मणैरियं गीर्वाणवाणी निष्पादिता इति। तदाहाध्यापको रैप्सनः–

'भारतीयार्यलिखितं वृत्तं साहित्यिकभाषासु सुरक्षितमस्ति। या व्यावहारिकभाषाभ्यो विकासं प्रापिताः।'[1]

3. डार्विनप्रतिपादितं विकासवादमनुसृत्य सत्यापितस्य भारतीयैतिह्यस्य खण्डनं विकृतकरणं च **तृतीयम्।**

यावान् भारतीयेतिहासः प्राचीनेषु ग्रन्थेषूपलभ्यते, स सर्वोऽप्यैक्यमत्येन प्रतिपादयति– 'यत् सृष्ट्यादौ मानवाः परम-ज्ञानिनोऽनेकविधशक्तिसम्पन्ना धर्मसत्त्वोपेताः परमदीर्घायुष आसन्। उत्तरोत्तरं ज्ञाने शक्तौ आयुषि च ह्रासः समजनि, मानवाश्चोपचीयमानरजस्तमस्काः संबभूवुः। एतद्विपरीतं विकासवादमतं ब्रवीति– 'मनुष्या आदौ पशुवत् जाङ्गलिका मांसाहारिणोऽज्ञानिनश्च आसन्। उत्तरोत्तरं ते विकसिताः सन्तः सभ्या अभूवन्।' नैतावदेव, अपितु 'मनुष्याणां पूर्वजा वनमानुषा आसन्, तेषां पूर्वजा वानराः, तेषां च पूर्वजा अन्ये, इत्येवं सर्वेऽपि प्राणिनः सर्वतः प्राक्समुत्पन्नाद् 'अमीबा' नाम्नः प्राणितः उत्तरोत्तरं विकसिताः सन्तो मनुष्यत्वमापुः।' एतं मतमाश्रित्यैव पाश्चात्या विद्वांसो वेदान् पांशुलपादानामविपालादीनां गीतानीति ब्रुवन्ति।

एतान्येव पाश्चात्यमतानि अस्मद्देशीयेषु विश्वविद्यालयेष्वद्यापि पाठ्यन्ते। तेनैतेषु विश्वविद्यालयेष्वधीतानां मनसि वैदिकवाङ्मये न केवलमश्रद्धैवोत्पद्यते, अपितु त एव कालान्तरे अनुसंधानकार्यं कुर्वन्तः वैदिकवाङ् मयविषये ततोऽपि हीनान् मतानाविष्कुर्वन्ति।

---

1. केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, अ. 2, पृष्ठ 56-57।

एतद् द्योतयितुं द्वयोर्भारतीयविदुषोर्यास्कनिर्वचनसंबन्धिमतमुपस्थाप्यते–

(क) राजवाड़े इत्युपनामा काशीनाथ आह– 'निरुक्तस्य निर्वचनपद्धतिरेतादृशी वर्तते, यत् तद् विज्ञानं विद्यास्थानं वा नैव वक्तुं शक्यते..... निरुक्तं विज्ञानं नास्ति, अपि तु विज्ञानस्योपहासो वा वर्तते.....। निरुक्तस्य निर्वचनप्रकारो भ्रममात्रं मानवमस्तिष्कस्य व्यर्थः प्रयोगो वा वर्तते। ..... अहं ससाहसं वक्तुं शक्नोमि यन्निरुक्तस्य निर्वचनपद्धतिरयुक्ता (मूर्खतापूर्णा) विद्यते। पुनरपि तदद्य यावद् स्वस्थानं (वेदाङ्गत्त्वं) भजते।..... निरुक्ते बहुसंख्यकानि निर्वचनानि मूर्खतापूर्णानि सन्ति, यतस्तानि अशुद्धं सिद्धान्तमाश्रयन्ति।.....एतत्सिद्धान्ताश्रयेण बहूनि निर्वचनानि कल्पितानि।..... शुद्धानि निर्वचनानि त्वत्यन्तमल्पकानि विद्यन्ते इति।'[1]

(ख) अपरो भाषाशास्त्रित्वेन परमख्यातिमापन्नः सिद्धेश्वरवर्माऽऽह–

'एतेन प्रकटीभवति यद् यास्कस्य निर्वचनप्रदर्शनोत्साहः प्रमत्ततासीमां प्राप्तः' इति[2]।

"यास्कोऽतिनिर्वचनकर्त्ता आसीत्। तस्य निर्वचनमत्तता तत्कल्पनाशक्तिमुज्झितवती। तस्य कल्पनाया दरिद्रता विलक्षणा वर्तते। एतेन गम्भीरदोषेण स न केवलं व्यर्थानि शिथिलानि सारहीनानि सत्याद् दूरं गतानि निर्वचनानि करोति, अपितु प्रतीयते यत् स लक्षणादिभिरपि केषांचिच्छब्दानामर्थस्य विस्तरो भवति" इति नैव ज्ञातवान्। अत एव लाक्षणिकार्थद्योतनायापि स पृथक् निर्वचनानि आचष्टे इति[3]।

एतैरुद्धरणैरतिविस्पष्टं भवति यत्पाश्चात्यैर्विद्वद्भिरीसाईयहूदीमतपक्षपातेनानुसन्धानमिषेण च वैदिकवाङ्मयविषये यः प्रलापो विहितः, तमेव विश्वविद्यालयेष्वधीत्य भारतीया अपि तथाविधा विद्वांसः कीदृशीं मानसिकीं दासतामभजन् इति? एते खलु पाश्चात्यदृशैव सर्वं पश्यन्ति, न तेषां स्वचक्षुर्विद्यते। अतएव **'पश्यंदक्षण्वान् न विचेतदन्धः' (ऋ. 1।164।16)** इति श्रुत्या सत्यमुच्यते।

एवं वेदप्रचारस्य ह्रासकारणान्युपस्थाप्य तत्प्रतीकाराय केचन उपाया निर्दिश्यन्ते–

1. वेदानां वैदिकवाङ्मयप्रामाण्येन तादृशी वैज्ञानिकी व्याख्या कर्तव्या, येन साम्प्रतिकास्तर्कप्रधाना अपि मानवा वेदेषु श्रद्दधीरन्, तदध्ययने च प्रवर्त्तेरन्।

2. यज्ञानामपि तादृश्येव वैज्ञानिकी व्याख्या विधेया, यया वैदिककर्मकाण्डविषये लौकिकानां पाश्चात्यशिक्षादीक्षितानां च हृदयेषु श्रद्धोत्पद्येत। यज्ञानां प्रचारेण वेदाध्ययने

---

1. द्र.–'काशीनाथ राजवाड़े' द्वारा सम्पादितस्य निरुक्तस्य (पूनानगरस्थ भण्डारकरप्राच्यविद्यानुसंधानसंस्थानतः प्रकाशितस्य) भूमिका, पृष्ठ 40–43।
2. इटिमोलोजी ऑफ यास्क, पृष्ठ 3।
3. स एव ग्रन्थः, पृष्ठ 8।

प्रगतिर्निश्चितैव।

3. वेदानामध्ययने श्रवणे च सर्वेऽधिकृताः स्युः। यः खलु वस्तुतोऽनधिकारी भविष्यति, स स्वयमेव तदध्ययनादुपरंस्यति।

एतस्मिन् विषये दयानन्दसरस्वतीस्वामिनो मतं 'वेदाध्ययने समर्था सर्वे मानवा अधिकृताः' इति नितरां सत्यं वर्त्तते। अत एव वेदाधिकारनिरूपणप्रसङ्गे तत्रभवान् सत्यव्रतसामश्रम्यप्याह'–

"शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षाद्वेदवचनमपि दर्शितं स्वामिदयानन्देन–'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च' (वा.सं. 26।2)।" इति।[1]

यदि हि नाम उक्तमन्त्रानुसारं शूद्राणामतिशूद्राणामपि वेदज्ञानेऽधिकारः तर्हि स्त्रीभिः किमत्रापराद्धम्? द्विजपत्नीत्वात्तदध्ययनं प्राप्तमेव। गार्गीवाचक्नव्यादयो बह्व्यो ब्रह्मवादिन्यः पुराकल्पे बभूवुरिति वैदिकग्रन्थेष्वतितरां प्रसिद्धमस्ति।

पुराकाले स्त्रीणामपि उपनयनसंस्कारो भवति स्म। गुरोः सकाशाच्च ता वेदमधीयते स्म। तदुक्तम्–

'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्ययनं च वेदानां भिक्षाचर्यं तथैव च॥'[2]

स्त्रीणामुपनयने मन्त्रलिङ्गमपि दृश्यते–**'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता' (ऋ. 10।109।4)** इति,

शूद्रकुलोत्पन्नानां मातङ्गादीनां बहूनां ब्राह्मणत्वप्राप्तिरितिहासग्रन्थेषु श्रूयते। ब्रह्मत्वप्राप्तिर्न वेदज्ञानमन्तरेण कथमपि सम्भवति। तस्माद् वेदाध्ययनात्तच्छ्रवणाद्वा न कश्चिदपि बलान्निरोधयितव्यः। तदैव च **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' (ऋ. 9।63।5)** इति मन्त्रलिङ्गानुसारं विश्वं समस्तमपि वैदिकधर्मानुयायिनं विधातुं वयं समर्था भविष्यामः। वेदस्य सर्वत्र भूमण्डले प्रसारः स्यादित्याकाङ्क्षया स्वामिदयानन्देनार्यसमाजस्य तृतीयो नियमो विहितः– **'वेदाः सर्वसत्यविद्यानामाकरग्रन्थाः सन्ति, वेदानां पठनं पाठनं श्रवणं श्रावणं च समस्तानामार्याणां परमो धर्मः' इति।**

अहो बत! वेदवैदिकमतप्रचारार्थोत्सर्गीकृतजीवनेन स्वामिदयानन्देन प्रवर्तित आर्यसमाजोऽपि स्वस्याचार्यस्याज्ञामुपेक्ष्य स्वीयपरमधर्माद् वेदाध्ययनात्सम्प्रति पराङ्मुख इव सम्पन्नः। तस्मात् **'को वेदानुद्धरिष्यति'** इति प्रश्नः सर्वदा समेषां सम्मुखं जागर्त्येव।

---

1. ऐतरेयालोचने पृष्ठ 7।
2. श्लोकोऽयं निर्णयसिन्धोस्तृतीयपरिच्छेदे 'इति यमोक्तेः' इत्येवमुद्धृतः।

4. पाश्चात्यविद्वद्भिरीसाईयहूदीमतपक्षपातेन अनुसंधानमिषेण वैदिकवाङ्मयनिन्दका ये ग्रन्था लिखिताः तेषां विश्वविद्यालयेषु पठनं पाठनं यथा सर्वथा निरुद्धं भवेत्, अस्मत्पूर्वजैर्ऋषिमुन्याचार्यवर्यैः प्रोक्तानाम् अस्मत्सत्येतिहासादिसिद्धपक्षयुतां ग्रन्थानां च पठनपाठनं यथा सम्भवेत्, तथा सामूहिकः प्रयत्नो विधेयः। येन तत्राधीता भाविनो विद्वांसो वेदनिन्दका वेदोपेक्षका वैदिकसंस्कृतिविरहिता वा नोत्पद्येरन्।

5. पाश्चात्यैर्विद्वद्भिः भाषाविज्ञान-वैदिकदेवशास्त्र-वैज्ञानिकेतिहासादिविषयान् विकासवादं वा पुरस्कृत्य भारतीयभाषा-संस्कृति-साहित्येतिहासादिविषयेषु यद्यदन्यथाप्रलपितमस्ति, तस्य तस्य प्रचारस्य निरोधाय स्वीयया भारतीयविज्ञानसिद्धदृष्ट्या भाषाविज्ञानादिविषयका ग्रन्था निर्मातव्याः। पाश्चात्यानां मतानां सम्यगालोचना बलवत् खण्डनं च विधेयम्।

6. वेदानां वैदिकवाङ्मयस्य च प्रचाराय प्राचीनानां ग्रन्थानां मुद्रणाय तादृश उपायो विधेयः, येनेमे ग्रन्थाः सर्वदा सर्वत्र सुलभाः स्युः। तत्तद्ग्रन्थोपोद्घातेषु तस्य तस्य ग्रन्थस्य विषये पाश्चात्यैस्तदनुसारिभिश्च पौरस्त्यैर्यत् किञ्चिन्मिथ्या प्रलपितम्, तस्य तस्य सप्रमाणम् आलोचना विपक्षमुखमर्दनसमर्थं खण्डनं चावश्यमुट्टंकितं भवेत्।

7. वेदप्रसाराय सुरभारतीप्रसार आवश्यकः। नहि तदन्तरेण वेदप्रचारः कथमपि सम्भविष्यति। अतः संस्कृतभाषाप्रचाराय तादृशो यत्नो विधेयः, येन पुनरियमस्माकीना राष्ट्रभाषा स्वीयं वास्तविकं पदमलङ्कुर्यात्। तदर्थं च सुगमरीत्या संस्कृतभाषाशिक्षका ग्रन्था निर्मातव्याः। स्थाने-स्थाने च संस्कृतपाठशालानां स्थापना कार्या। संस्कृतभाषाम ध्येतुमुत्साहवर्धनाय छात्रेभ्यः पुरस्कारा वृत्तयो वा प्रदेयाः।

आशासे पुरस्तान्निर्दिष्टैः कतिपयैरुपायैर्वेदानां पुनः प्रसाराय साहाय्यं लप्स्यते।

प्रसाराय च वेदानाम् उपायाश्चेह दर्शिताः।
न तु मीमांसकख्यातिं गतोऽस्मीत्यभिमानतः॥

अन्ते च

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते॥ - कुमारिल भट्टः

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 18 (8-22) January-June 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

वेदविमर्शः

-प्रो. हरिश्चन्द्र रेणापुरकरः

वेदाः किलास्माकं भारतीयानां संस्कृतिसभ्यतयोः सारसर्वस्वभूता इति न तिरोहितं केषामपि विपश्चिदपश्चिमानां विद्वद्धौरेयाणाम्। वेदमूलैव भारतीया संस्कृतिः, वेदानुसारिण एवास्माकमाचारव्यवहाराः, वेदानुप्राणित एव नो धर्मः, वेदानुगृहीतान्येवास्माकं शास्त्राणि, वेदार्थनिर्णयार्थ एव चास्माकं वेदान्तः। आजन्मन आमरणान्तमस्माकं सर्वेऽपि संस्कारा अभ्युदयनैःश्रेयसिकाश्च व्यवहारा प्राधान्येन वेदानेव संश्रयन्ते। तानेव चोपजीव्य प्रवर्तन्ते साहित्य-दर्शन-कलेतिहासादिमानवप्रवृत्तयः। वेदाध्ययनपर्यवसाय्येवासीत् पुरा किल भारतीयानां शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तछन्दोज्योतिषादिवेदाङ्गानामन्येषां च शास्त्राणामध्ययनम्। साधूक्तं दर्भपवित्रपाणिना भगवता पतञ्जलिना वेदाध्ययनस्यानिवार्यतां प्रतिपादयता–"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति" ब्राह्मणेनेत्युपलक्षणम्। द्विजमात्रेण षडङ्गाध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनं निष्कामभावेनावश्यं कर्त्तव्यम्। द्विजमात्रेण वेदाध्ययनस्यावश्य-कर्त्तव्यतामुपोद्बलयन् भगवान् मनुरप्याह–

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ - (मनु. 2.168)

अथ कोऽयं वेदो नाम यं वयमार्याः पदे पदे उच्चारयामः, मन्दिरे मन्दिरे बोधयामः, तीर्थे तीर्थे सनाथयामः, पथि पथि प्रथयामः, वादे वादे सिद्धान्तयामः किं बहुना यत्र तत्र सर्वत्र तस्यैवोद्घोषं कुर्मः। न केवलं वयं भारतीया एवापितु पाश्चात्यविमर्शकमूर्धन्या अपि तं मानवपुस्तकालये प्राचीनतमग्रन्थत्वेनाद्रियन्ते मानवमात्रस्य च समुन्नत्यर्थं दिव्यज्योतिःस्तंभत्वेन स्वीकुर्वते। महाप्राज्ञो मैक्समूलर महोदयोऽ-जूघुषत्–"Vedas are the oldest books in the library of the mankind" अर्थात् मानवपुस्तकालये वेदा नाम प्राचीनतमग्रन्थाः सन्तीति। तथैवान्यः प्रो. हीरेननामा सुप्रसिद्धोऽनुसन्धानकृदैतिहासिको विपश्चिदाचष्टे- "They (the vedas) are without doubt the oldest works composed in Sanskrit, even the most ancient Sanskrit works allude to the Vedas as already existing. The vedas stand alone in their solitary splendour standing as beacon of Divine hight for the onward march of Humanity (Historical researches by Prof. Heeren Vol. II P. 127)" "वेदा नाम प्राचीनतम संस्कृतग्रन्थाः। उपलभ्यमानप्राचीनतमसंस्कृतग्रन्थेष्वपि तेषां

तत्पूर्वसद्भाव समुल्लेखात्। तेषां केवलज्योतिर्मयत्वान्मानवमात्रस्य समुन्नत्यर्थं तेऽद्भुतदिव्यज्योतिःस्तंभत्वेनावतिष्ठन्ते" इति। एवं पक्षपातहीननैकपाश्चात्यवेदविद्भिर्वेदानामनन्यसाधारणो महिमा बहुशो गीयते।

वेदशब्दस्य व्युत्पत्तिलभ्येऽर्थे जिज्ञासायां विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति प्रातिशाख्योक्तं वेदशब्दरूपं व्युत्पादनमेवास्माकं पुरतः समायाति। "अपौरुषेयं वाक्यं वेदः" इति सायणीयऋक् भाष्ये।

"इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेद" इति तैत्तिरीयसंहिता भाष्यभूमिकायां श्रीमत्सायणाचार्यः।

तत्रैव–

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

इति वचनोपन्यासपूर्वकं वेदानां वेदत्वं साधयति वेदभाष्यकृच्चूडामणिर्भाष्यकारः सायणाचार्यः। आधुनिकभाष्यकृत्प्रवरेण स्वामिदयानन्देनापि स्वकीयायां ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम्-विदन्ति, जानन्ति, विद्यन्ते, भवन्ति, विदन्ति सर्वाः सत्यविद्याः यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदा इति वेदशब्दस्य व्युत्पत्तिःकृता। एवं 'विद्' ज्ञाने 'विद्' सत्तायां 'विद्लृ' लाभे 'विद्' विचारणे इति पठितेभ्यो धातुभ्यो 'हलश्च' इति घञि कृते विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति-विन्दन्ते-लभन्ते, विन्दन्ते विचारयन्ति येन यत्र वा स वेद इति समामनन्ति प्रायः सर्वेऽपि वेदविपश्चितः।

वेदाविर्भावः

सर्गारम्भे हि परमकारुणिकेन जगज्जनकेन परमेश्वरेण स्वपुत्राणां मानवानां कल्याणार्थं सृष्ट्युत्पत्तिसमकालमेव साक्षात्कृतधर्मणां निर्धूतरजस्तमस्कानां परमपावनानामग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाख्यानामाद्यानामृषीणां विमलान्तःकरणेषु स्वकीयाजरामरानादिनित्यज्ञानज्योतिषः प्रकाशः कृत इति भारतीयानां पारंपरिको दृढ़ो विश्वासः। परमकरुणावरुणालयस्य परमेश्वरस्येदं शाश्वतिकं नित्यं ज्ञानमेव वेदश्रुतिनिगमाम्नायादिनामान्तरैर्व्यपदिश्यते।

सोऽयं वेदो वेदत्वेन एकः सन्नपि विषयभेदाच्चत्वारः संजाता ऋग्यजुसामाथर्वाभिधानतया च प्रमिताः। वेदानामीश्वरप्रवक्तृत्वात् पुरुषान्तराकृतत्वाच्च तेषामपौरुषेयत्वं नित्यत्वं स्वतःप्रामाण्यं चेति समेषां प्राचां वैदिकानां सर्वमान्यो राद्धान्तः। तदिदं वेदानामपौरुषेयत्वनित्यत्व-सर्वविद्यानिधानत्वादिविषये संहिता-ब्राह्मणोपनिषत्-स्मृति-दर्शन-रामायण-महाभारतादिसकलशास्त्रप्रवराणामैकमत्यं दरीदृश्यते। प्रथमं तावद् वेदेष्वेव तेषां परमेश्वरादाविर्भावः प्रतिपादितः। तथाहि ऋग्वेदे–

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

ऋग्वेद 10-71-1

अपि च

यज्ञेनं वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥

ऋग्वेद 10-71-3

किं च पुरुषसूक्ते–

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ ऋग्वेद 10-90-9

अथर्वण्यपि–

तस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥ 10-7-20॥

एवमेवान्येष्वपि बहुषु वेदमंत्रेषु स्फुटं प्रपञ्चितं भवति यद् यज्ञरूपादीश्वरादेव सर्वे वेदाः प्रादुर्भूताः इति ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि वेदानां परमेश्वरादुत्पत्तिः प्रदर्शिता। तथाहि शतपथे मैत्रेयीमुपदिशन् याज्ञवल्क्यः कथयति–

"एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्
यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः"।

श.14-5-4-10 शतपथे एवाग्रे–

"अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेद" श. 11-5-7-3 इत्यस्मिन् वचने अग्निवायुसूर्याभिधर्षिषु परमेश्वरप्रेरणया ऋग्यजुःसामवेदानां प्रादुर्भावो जात इति स्पष्टमुक्तम्। तथैव **'प्रजापतिर्वा इमान् वेदानसृजत्'** इति ऐतरेयब्राह्मणवचनेऽन्येषु च नैकब्राह्मणवचनेषु वेदानामपीश्वरप्रणीतत्वं स्फुटं निगदितम्। पाश्चात्यपण्डित प्रकाण्डानामपि चमत्कृतिमादधानासूपनिषत्स्वप्याम्नायानामीश्वरोपज्ञत्वं समाम्नातम्। तथाहि बृहदारण्यके–

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्
यदृग्वेदो यजुर्वेदः अथर्वाङ्गिरस"

इति (बृह० 2-4-10)

भगवान् वैवस्वतो मनुरपि वेदानामपौरुषयत्वविषय आह–

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥ –मनु. 1-13

महाभारते भगवान् द्वैपायनोऽप्यमुमेव सिद्धान्तं प्रथयति–

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

सर्वेषामास्तिकदर्शनानामपि वेदानामपौरुषेयत्व–नित्यत्वादिविषये ऐकमत्यमुपजृम्भते। तद्यथा–

1. **तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।** (वैशेषिके 1-1-3)
2. **मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।**(न्याये 2-1-69)
3. **न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्।** (सांख्ये 5-46)
   निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्। (सांख्ये 5-51)
4. **स एष पूर्वेषामापि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।** (योगे 1-26)
5. **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।** (मीमांसायाम् 1-1-2)
   नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्। (मीमांसायां 1-1-18)
6. **शास्त्रयोनित्वात्।** (वेदान्ते 1-1-3)
   अत एव च नित्यत्वम्। (वेदान्ते 1-3-29)

शास्त्रयोनित्वादिति वैय्यासिकसूत्रव्याख्याप्रसङ्गे दार्शनिक प्रकाण्डाः श्रीमच्छंकराचार्यपादाः प्रपञ्चयन्ति यत्–

"महत ऋग्वेदादेःशास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यः संभवोऽस्ति" इति।

इत्थं श्रुतिस्मृतिदर्शनादिभिर्वेदानामपौरुषयत्वे समुद्घोषितेऽपि केचन बौद्धजैन-चार्वाक-ख्रिस्त-पारसीकमुहम्मदादिमतानुयायिनो अन्ये च आधुनिकज्ञान-विज्ञानविभूषिताः पाश्चात्यपौर्वात्यविमर्शकमूर्धन्याः नैवाभ्युपगच्छन्ति तत्। ऋषीनेव अत्र कर्तॄन् ते मन्यन्ते। अत्र त्वेतद् वक्तुं भवति। इह खलु ज्ञानं स्वाभाविकं नैमित्तिकं चेति द्विविधं भवति। मनुष्याणां न विद्यते स्वाभाविकं ज्ञानं काश्चन मूलप्रवृत्तीर्विहाय।

तेषां सर्वमपि विशिष्ट ज्ञानविज्ञानं सर्वथा नैमित्तिकमेव। अध्यापकग्रन्थादिनिमित्तादेव मनुष्यैर्लभ्यते ज्ञानम्। गुरुं विना न कोपि किमपि ज्ञानं प्राप्तुं समर्थो भवति। तिरश्चां तु सर्वमेव ज्ञानं स्वाभाविकमेव। अतएव महाज्ञानविज्ञानयुक्तस्यापि नरस्य शिशुर्जलसंतरणं नैव जानाति शिक्षकं विना यत् पशुशिशवो जन्मत एव जानन्ति तेषां सर्वस्यापि ज्ञानस्य स्वाभाविकत्वात्। यदि हि नाम ऋषयो मन्त्रकर्तार आसन् तर्हि कुतस्तेषां पूर्वेषामृषीणां ज्ञानोपलब्धिः। यद्युच्यते स्वत एव तन्न घटते निमित्ताभावात् सर्वस्य च नरज्ञानस्य

नैमित्तिकत्वात्। विकासवादिदृष्ट्या तु तैः ज्ञानशून्यैरविकसितमस्तिष्कैरेव भाव्यम्। वेदानां ज्ञानविज्ञानकोषत्वं सर्वाधिकप्राचीनत्वं च दृष्ट्वा नैतद्वक्तुं शक्यते। अतस्तेषामाद्याना-मृषीणामपि केनापि गुरुणा भाव्यमेव। सर्गारम्भे स एव परमेश्वरस्तेषामपि गुरुणामादिगुरु-रासीत्। अयमेव सिद्धान्तो भगवता पतञ्जलिनापि निगदितः **"स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"** योग. 1.26 इति सूत्रं प्रणयता। अतः खलु प्राचामाभाणको यत् **"ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो न तु कर्त्तारः"** इति।

ये त्ववरकालीना मतवादिनः स्वस्वधर्मग्रन्थानेवेश्वर ग्रन्थत्वेनोपकल्पयन्ति तत्तु सर्वथा तर्कविरुद्धमेव तेषामवरकालीनत्वादीश्वरे च पक्षपातित्व दोषसंभवात्। प्राच्यविद्यानुसन्धानधुरन्धरेण प्रो. मैक्समूलरमहोदयेन ख्रिस्तमतावलंबिना सतापि नूनं साधूक्तम्–

"If there is a God What has created heaven & earth it will be unjust on His part if He deprived millions of souls born before Moses of His devine knowledge. Reason and Comparative study of religions declare that God gives His devine knowledge to mankind from His first appearance on earth (Science of Religion)"

अर्थात् यद्यस्ति द्यावापृथिव्योर्निर्माता कश्चित्तत्परमेश्वरः तर्हि नितान्तमन्याय्यम-भविष्यत्तस्य यदसौ मूसातः प्राक् समुत्पन्नांल्लक्षोत्तरमानवान् स्वकीयदिव्यज्ञानाद् वञ्चितानकरिष्यत्। तर्कः धर्माणां तुलनात्मकानुशीलनं च घोषयतो यत् परमेश्वरो मानवसर्गारम्भ एव स्वकीयं दिव्यं ज्ञानं प्रयच्छति। एतत्तर्कानुसारमपि वेदानामीश्वरीयज्ञानत्वं साधूपपद्यते।

वेदानां सर्वविद्यानिधानत्वम्–

अतिपुरातनकालादारभ्याद्ययावत् संजातानां प्रायः सर्वेषामप्याचार्यमहर्षीणामयमपरो वेदविषयकः प्रसिद्धः राद्धान्तो यद् वेदा न केवलं कर्मकाण्डात्मका एवापितु भूतभव्यभविष्योपयोगि-सकलविद्यानामाकरग्रन्था इति। वेदा नाम निखिलज्ञानविज्ञानराशिरिति भारतीयानां परंपराप्राप्तो दृढ़ो विश्वासः। भगवता वैवस्वतमनुना अस्मिन्विषये यदादिष्टं तत्तु नितरां महत्त्वपूर्णम्। स हि भगवानति प्राचीने काले उच्चैरुदघोषयत्–

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ –मनु. 12.100

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥ –मनु. 12.97

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुःसनातनम्।
अशक्यञ्चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥ –मनु. 12.94

बिभर्ति सर्व भूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥ –मनु. 12.99

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ –मनु. 12.102

अहो वेदानामनन्यसाधारणं महत्त्वं, सर्वविद्यानिधानत्वं, सर्वशास्त्रमूलत्वं च महता कण्ठेन प्रगीतं भगवता मनुना। तेनैव भगवता मनुनाऽन्यत्र पुनरुद्घुष्टम्। **"सर्वज्ञानमयो हि सः" "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्"** मनु. 1.125 **"धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः"** मनु. 1.132 इति। भगवान् मनुः स्वयं राजाऽऽसीत्। तस्य राज्य प्रशासने सेनापतिपदं, राज्यपालपदं, नगररक्षकपदं, न्यायाधीशपदमन्यानि च महत्त्वपूर्णानि राज्यपदानि केवलं वेदविदेवालंकर्तुं पारयति स्म। अद्यत्वे न दृश्यते कुत्रापि समाजे वेदविदुषामीदृशी प्रतिष्ठा संभावना वा वेदाध्ययनस्याशुद्धत्वादपूर्णत्वाच्च। अयमेव वेदविषयको राद्धान्तस्तत्रभवता भगवता कृष्णद्वैपायनेनापि प्रतिपादितः। तथाहि–

यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित्प्रवृत्तयः।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्॥ म.भा.अनु. 122–4

ब्रह्मज्ञाननिरतेन भगवता याज्ञवल्क्येनाप्युक्तम्

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किंचिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्॥

अपि च शिक्षा–कल्प–व्याकरण–निरुक्त–छन्दोज्योतिष–धर्मशास्त्र–पदार्थविज्ञान–साहित्यकला–शिल्प–राजनीति–धनुर्वेदायुर्वेदगन्धर्ववेदादिशास्त्राणामद्यत्वे समुपलभ्यमानाः सर्वेऽप्याकरग्रन्थाः स्ववेदमूलकत्वं सोरस्ताडं घोषयन्ति।

परब्रह्मनिःश्वसितमुत वेदानां सर्वविद्यानिधानत्वे सत्यपि कोऽवसरस्तत्तच्छास्त्र–प्रवचनस्य इति शङ्कायामुच्यते। सर्गारम्भे हि सर्वेऽपि मानवा निष्कलुषबुद्धयः सत्त्वप्रधानाः अतएव साक्षात्कृतधर्माण आसन्। ते वेदादेव सकलज्ञानविज्ञानं साक्षात्कृतवन्तः। नासीत्तदा वेदातिरिक्तात्कस्याप्यन्यशास्त्रस्यावश्यकता। किन्तूत्तरकाले यथा यथा मनुष्याः अपचीयमानसत्त्वा उपचीयमानरजस्तमस्काः सन्तो वेदरहस्यावगाहनं कर्तुमसमर्था बभूवुस्तथा तथा तानल्पमेधसो नरान् वेदमन्त्रगता विविधाः विद्याः सम्यग् बोधयितुं महर्षिभिर्रचितानि विविधानि शास्त्राणि। इमामेव शास्त्रावतारकथां भगवान् यास्काचार्यः स्वकीये निरुक्तशास्त्रे कथयति–

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।" (नि. 1–20)

भगवता याज्ञवल्क्येनापि स्पष्टीकृतोऽयमेव शास्त्रोत्पत्तिप्रसङ्गः शब्दान्तरैः तद्यथा–

दुर्बोधं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं ऋषिभिः कृतम्॥

वेदसंरक्षणम्

ईदृशानां महामहिममण्डितानां वेदानामद्य यावद् वर्णमात्रेणाप्यविकृततया संरक्षणमपि भुवनेऽद्वितीयमेव। पुरा किल "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति" शास्त्रवचनं प्रमाणीकृत्य प्रायः सर्वेऽपि ब्राह्मणा निष्कामबुद्ध्या वेदाध्ययनं कुर्वन्ति स्म। लेखनं मुद्रणं वा प्रायः सर्वैः सर्वत्र ज्ञानरक्षणार्थमुपयुज्यते। मिस्रदेशीयैः पर्णलेखनेन खाल्डिदेशीयैरिष्टका लेखनेन स्वकीयं परंपराप्राप्तं ज्ञानं संरक्षितमिति इतिहासविदो जानन्ति। अस्मत्पूर्वजैरपि ताडपत्रादिषु लिखित्वा समग्रं वाङ्मयं सुरक्षितम्। परं मन्त्रमयानां वेदानां संरक्षणं ताडपत्रलेखनेनेष्टिकालेखनेन वा नैव भवेदिति विजानद्भिर्मन्त्रद्रष्टृभिः ऋषिभिर्वेदरक्षणार्थं कोऽप्यपूर्व एवोपायोऽवलंबितः। लेखकानामनवधानेनाज्ञानेन लेख्यपत्रादीनां दोषेण च लिखितग्रन्थेष्वपि बहवो दोषाः संभवन्ति। अत एव स्मृति शक्तिमवलम्ब्य भारतीयब्राह्मणैरनादिकालादारभ्य वेदरक्षणं कृतम्। संपूर्णोऽपि वेदराशिर्वेदपाठकानां जिह्वाग्रेऽद्यापि वर्णमात्रस्याप्यविकृततयाऽक्षुण्णो वर्तते।

वेदरक्षणार्थं स्मृतिसहाय्यं लेखनविद्याऽभावेन नैवाङ्गीकृतं भारतीयैः। प्रागैतिहासिककालादेव लेखनकला भारतीयानां सुविदिताऽऽसीदिति स्पष्टं भवति ऋग्वेदीयदशममण्डलांतर्गतस्योल्लेखेन। परं लिखितग्रन्थेष्वपि लेखकानां पाठकानां वा प्रमादेन पाठभेदाः संभवन्त्येव। अत एव सुविदितामपि तां लेखनकलामनाश्रित्य ज्ञानविज्ञाननिधिभूता इमे वेदाः तपोनिष्ठैर्ब्राह्मणैर्महता प्रयत्नेन जिह्वाग्र एव संरक्षिताः। वेदरक्षणार्थं ब्राह्मणैरष्ट विकृतिमयमद्भुतं वेदपठनतन्त्रं विनिर्मितं पुराकाले।

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो घनो रथः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

इत्यस्मिन् श्लोके प्रोक्तानामष्टविकृतीनामाधारेणैक एवं वेदमन्त्रः अष्टविधरूपेण पठ्यते। तथा पठनेन पदमात्रा वर्णमात्राविकृतिरपि नैव संभवतीत्यहो महदाश्चर्यम्।

वेदार्थानुशीलनम्–

किन्तु केवलमन्त्र पाठापेक्षया वेदमन्त्रार्थज्ञानं तदनुगुणमाचरणमेव सुतरां श्रेयः साधकमिति समामनन्ति शास्त्रप्रवचनकाराः। यथा भगवान् पतञ्जलिर्महाभाष्ये–**"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति"** इति।

भगवान् यास्काचार्यस्तु स्वकीय निरुक्तशास्त्रे अर्थज्ञानं विना केवलमंत्रपाठकान् भारवाहिजडस्थाणुना तुलयन्नाह–

स्थाणुरयं भार हारः किलाभूदधीत्य वेदं न विज्ञानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।। –निरु.1.10

अत एवाष्टविकृतियुतपाठद्वारा वेदसंरक्षणेन साकं वेदमन्त्रार्थानुशीलनमपि प्राचीनाचार्यमहर्षिभिर्महता प्रयत्नेन विहितम्। पुरा काले वैदिकभाषायाः सर्वत्र प्रसृतत्वाद् वेदार्थबोधे न कापि बाधा विप्रतिपत्तिर्वाऽनुभूयते स्म। किन्तु गच्छति काले वेदाः तथा विलुप्तार्था बभूवुर्यथा कौत्सादयः केचन वेदमन्त्राणां निरर्थकतामेव जगुः। तदा परमकारुणिकैर्वेदविपश्चिद्भिर्निरुक्तादयो वेदव्याख्यापथप्रदर्शकाग्रन्था विरचिताः। तथा च श्रीमत्स्कन्दस्वामी, उद्गीथवेङ्कटमाधव–आत्मानन्द–आनन्दतीर्थ–सायण–महीधर–उव्वट–दयानन्दप्रभृतिभिराचार्यवर्यैर्वेदभाष्ये महान् परिश्रमो विहितः। अर्वाचीनकाले विल्सन–ग्रिफिथ–राथ–ग्रासमन–लुडविग–गेल्डनर–ओल्डेनबर्ग–व्हिटने–बेन्फी–मैक्समूलरमैक्डोनेल–प्रभृतिभिर्वैदेशिकवेदविमर्शकैरपि आंग्ल–फ्रेञ्च–जर्मनादिभाषासु वेदानुवादाः कृताः। संस्कृतभाष्यकृत्सु सायणाचार्यस्यैव भाष्यं संपूर्णं लभ्यते सर्वोपरि च गण्यते। तस्यैव प्रभावः प्रामुख्येन पाश्चात्यवेदवित्सु जागर्ति। तत्रापि–राथ–ग्रासमन–गेल्डनरप्रभृतिभिस्तुल–नात्मकभाषाशास्त्रानुसंधित्सुवेदविद्भिरैतिहासिकपद्धतिनाम्ना काप्यन्यैव पद्धतिरवलंबिता वेदार्थानुसन्धाने। पारसीकमिस्रादिदेशानां धर्मपर्यालोचनया भाषाविज्ञानस्य पारस्परिक–तारतम्यपरीक्षया च वेदानां सत्यार्थः समुल्लसतीति पाश्चात्यानां विश्वासः। एनामेव सरणिमवलम्ब्य ते वेदार्थपर्यालोचनपरा विलोक्यन्ते। किन्तु प्राचीनाचार्यमहर्षीणां मते तु कोऽपि भूयोविद्यः तपस्वी ऋषिरेव यथार्थं वेदरहस्यं साकल्येन ज्ञातुं पारयति। तथाहि यास्काचार्यः–

"न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति इत्युक्तं पुरस्तात्" नि. 13–13

वेदानां निगूढार्थरहस्यावगमाय प्राचीनैः कथं यावज्जीवं ब्रह्मचर्यपूर्वकं कठोरं तपस्तप्तं तथापि वेदरहस्यं कथं तैरज्ञातमेवातिष्ठदित्यस्मिन् विषये तैत्तिरीयब्राह्मणे सरहस्यैकाऽऽख्यायिका दीयते–

"भारद्वाजो ह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णस्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच। भारद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमेतेन कुर्याः इति। ब्रह्मचर्यमेतेन चरेयमिति होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयांचकार। तेषां ह एकैकस्मान्मुष्टिमाददे। स होवाच भारद्वाजेत्थाममन्त्र्य। वेदा वा एते अनन्ता वै वेदाः। एतद्वै त्रिभिरायुभिरन्ववोचथाः। अथ ते इतरदनुक्तमेव। एहि इमं विद्धि। अयं वै सर्वा विद्या इति।"

(तै ब्रा. 3–10–11–3, 4)

वेदार्थ-त्रिविध-प्रक्रिया–

एवं सर्वविद्यानिधानभूतानां वेदानां निगूढार्थरहस्यपरिज्ञानं नामातिदुष्करं कर्म। तत्र केचन साक्षात्कृतधर्माणो निर्धूतरजस्तमस्काः समासादितसकलशास्त्रविज्ञाना अलूक्षाः कुंभीधान्याः अलोलुपा विदितवेदितव्या ऋषिकल्पा एव विपश्चितः प्रभवन्ति नेतरे। एतेषां परब्रह्मनिःश्वसितभूतानामखिलविद्याधिकोषाणां दुरूहार्थपरिज्ञाननिमित्ताऽऽध्यात्मिका-धियाज्ञिकाधिदैविका इति मंत्राणां त्रिविधार्थप्रक्रिया पुराकालादेव प्रचलिता आसीत्। यदनुरोधाद् वेदमंत्राणां त्रिविधा अर्थाः क्रियन्ते। तेष्वेव ज्योतिष्परा राष्ट्रपरा इतरे च बहवोऽर्थाः समाविशन्ति। स्वयं वेदेष्वेव विविधार्थानां संकेता उपलभ्यन्ते। विविधार्थदर्शनं नाम प्राक्तनानामृषीणामतीव प्रियतमं कर्म इत्यत्र ब्राह्मणारण्यकोपनिषत्सु नैके साक्षिणः प्रसङ्गाः। भगवता यास्केन **"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि"** (ऋग्वेद 1-164-45) इत्यादिमंत्रस्य व्याख्याने कतमानि तानि चत्वारि पदानीति विचारे "इत्यार्ष" "इति वैयाकरणाः" "इति याज्ञिकाः" "इति नैरुक्ताः" "इत्येके" "इत्यात्मप्रवादाः" इति षट् पक्षा उपस्थापिताः। प्राचीनाचार्य महर्षि-प्रतिज्ञातस्य वेदानां सर्वविद्यानिधानत्वस्य सिद्धये तदनुगुणं च तेषां गौरवातिशयसंरक्षणाय वेदमन्त्राणामनेकार्थप्रतिपादन-शक्तिरवश्यमंगीकर्तव्या इति नैरुक्तानां सर्वमान्यो राद्धान्तः। अतएव भगवान् यास्काचार्यः **"वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्"** (ऋग्वेद 10-71-5) इत्यृगंशं स्पष्टीकुर्वन्नाह **"अर्थं वाचः पुष्पफलमाह याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा"** इति। नि. 1-19॥ एतेन दैव्या वाचः वेदस्य याज्ञिकाधिदैविकाध्यात्मिका इति त्रिविधा अर्था भवन्तीति स्पष्टमुच्यते। यास्कोत्तरकालीनः सर्व प्रथमो भाष्यकार आचार्यस्कन्दस्वाम्यपीमामेव त्रिविधार्थप्रक्रियामुपोद्वलयन् निरुक्तटीकायामाह–**"सर्वदर्शनेषु च सर्वे मंत्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय अर्थं वाचः पुष्पफलमाह"** (नि. 1-20) **इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्** (स्कन्द नि. टी. 7-5-36) इमामेव वेदानामनेकार्थपद्धतिमनुलक्ष्य दुर्गाचार्यो लिखति–**तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यानेकार्थेन भवितव्यम्। त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यार्थत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेष्वर्थस्येयत्तावधारणमस्ति, सहार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाऽश्वारोह वैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्त्रवन्ति।**

"तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचनमेकस्य क्रियते। क्वचिच्चाध्यात्माधियज्ञोपदर्शनार्थम् तस्मादेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् आध्यात्माधि-देवाधियज्ञाश्रयाः सर्व एवैते योज्या नात्रापराधोऽस्ति" (नि. 2/8 दुर्ग टी. पृ. 126) वेदशब्दानामनेकार्थविषये पुनः स लिखति **"अनुपक्षीयमाणशक्तयो हि वेदशब्दा यथा प्रज्ञपुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान्**

ब्रुवन्तीत्येतदनेन प्रदर्शितो भवति (नि. 1/20) सायणाचार्य पूर्ववर्ती हरिस्वाम्यपि स्वकीयशतपथभाष्ये इमामेव वेदार्थत्रिविधप्रक्रियां समर्थयन् लिखति–**मन्त्रा आधियाज्ञिकया इषेत्वादयः० त एव देवतापरत्वेनाधिदैविका त एवात्मानमधिकृताः आध्यात्मिकाः। ईशावास्यादयः आध्यात्मिका एव"** भट्टभास्करः तैत्तिरीयारण्यके **आध्यात्मिक पक्षे तु परमात्मने.....इन्द्रः ईश्वरश्च** आत्मानन्दः ऋग्वेदस्यास्यवामीयसूक्तभाष्ये स्पष्टं प्रतिजानीते–**आधियज्ञं स्कन्दस्वामिभाष्यं, निरुक्तमाधिदैवतम्। इदं तु भाष्यमाध्यात्मविषयमिति न च भिन्नविषयाणां विरोधः"** एवं वेदमन्त्राणां त्रिविधार्थप्रक्रिया प्राचीनाचार्यमहर्षीणामति पुरातनः सर्वमान्यः सिद्धान्तः। अनयैवानेकार्थशैल्या वेदानामपौरुषेयत्वं सर्वविद्यानिधानत्वमनन्यासाधारणं च गौरवं प्रख्यापयितुं संरक्षितुं च शक्यं नान्यथा।

किन्तु सायण-महीधर-उव्वटप्रभृतिभिर्मध्यकालिकाचार्यैः परम्परा प्राप्तामिमां त्रिविधार्थप्रक्रियां सर्वथा परित्यज्य केवलामाधियाज्ञप्रक्रियामेव समाश्रित्य संपूर्णं वेदभाष्यं प्रायशो यज्ञपरमेव चक्रे येन प्राक्कालीनाचार्यमहर्षिभिरसकृदुच्चैरुद्घुष्टं वेदानां गौरवातिशयं न केवलं न प्रादुरभूदपितु तिरोहितमेव। स्वकीयां वेदविषयां विचारसरणीं यजुर्वेदप्रति-पाद्यविषयां च प्रकटीकुर्वन् काण्वसंहिता भाष्यभूमिकायां सायणाचार्यः प्रतिजानीते। **"तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वं तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्"** अनेन स्पष्टं प्रतीयते यत् सायणाचार्यः न केवलं शतपथब्राह्मण एवापितु संहिता भागेऽपि आधानाग्निहोत्रदर्श-पौर्णमासादियज्ञकर्मणामेव प्रतिपादनं मन्यते स्म।

अनयैवाधियाज्ञिकपद्धत्या तेन संपूर्णोऽपि यजुर्वेदो व्याख्यातः यं पठित्वा न कोऽपि वेदान् सर्वविद्यानामाकरग्रन्थान् महामहिमण्डितांश्च मन्तुमुत्सहेत। क्व सा भगवता मनोः **'सर्वज्ञानमयो हि सः' 'धर्म जिज्ञासमानानां, प्रमाणं परमं श्रुतिः' "भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति"** इत्येतादृशी वेदविषयिणी महती घोषणा क्व च सायणाचार्याणां तेषु केवलमाधानाग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादियज्ञानामेव सद्भावप्रतिज्ञा। नूनमाकाशपातालयोरन्तरमस्तिद्वयोः मध्ये। तान्येतानि वेदमहत्वापकर्षकृत्केवलाधियाज्ञिक-पद्धत्याऽनुष्ठितानि सायण-महीधर-उव्वटादि मध्यकालीना चार्यकृतानि वेदभाष्याण्येव पाश्चात्यवेदविदुषां तेषु वेदेषु गोपालक गीतकबुद्धिं बबन्धु। महीधरोव्वटकृताश्लीलवेदभाष्येण तु जनानां वेदेषु श्रद्धाबुद्धिरेव विलयं प्रयाता। संस्कृतमधीयाना अपि छात्रा वेदाध्ययनात् पराजयन्ते।

बुद्धितर्कानुमोदिता एव विचारा अस्मिन् विज्ञानप्रधान युगे प्रतिष्ठां प्राप्नुयुर्नान्ये। अतो वेदानामीश्वरीयज्ञानानुगुणा बुद्धितर्कविज्ञानसंमता च व्याख्या करणीया येन

सांप्रतिकास्तर्कप्रधाना अपि जना वेदेषु श्रद्दधीरन् वेदाध्ययने च प्रवर्तेरन्। प्रत्यक्षव्यवहारोपयोगितापेक्षया केवलमदृष्टफलानुबन्धिवेदाध्ययने न कोऽपि जनः प्रवृत्तो भवेत्। अत एव वेदानां व्यवहारोपयोगि सर्वजनहितानुबंधि च व्याख्यानं सविशेषं कार्यम्। प्राचीनाचार्यानुमत एवायं मार्गः। पूर्वनिर्दिष्टत्रिविध प्रक्रियायां सर्व एवार्था समाविशन्ति। वेदानां यज्ञपरोऽपि अर्थो भवितुमर्हति। किन्तु स एव न केवलो वेदार्थः। तेषामाध्यात्मिकाधिदैविकावप्यर्थौ नितरां महत्त्वपूर्णौ भवतः। आध्यात्मिकोऽर्थः आत्म-शरीर-परमात्मसंबन्धेन त्रिविधो भवति। आधिदैविकोऽर्थस्तु विज्ञानपर एव। स च बहुविधः। अतो वेदानां मध्यकालीनाचार्यैः कृतो यज्ञपरोऽर्थः केवलं (1/3) एकतृतीयांश एवार्थः न तु पूर्णः। किन्तु यज्ञशब्देन केवलं श्रौतयज्ञ यागादीनेव ग्रहणं नैव भवति। **"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"** इति शतपथवचनानुसारं प्राणिमात्रकल्याणकृत्सर्वाण्यपि शुभकर्माणि यज्ञा एव भवन्ति।

अनादिकालात् सूर्यचन्द्राग्निवायुजलादिपरस्परविरुद्धस्वभावैरपि देवैरस्मिन् ब्रह्माण्डे विश्वक्षेमार्थं संपाद्यमानानामृतु-दिवस-मास-संवत्सरादिविविधयज्ञानामनुकृतिरूपेणैवाग्निहोत्र-दर्शपौर्णमासादिविविधयज्ञानां विधानं क्रियते श्रौतसूत्रकारैः सृष्टिविद्यावबोधार्थं प्रतीकरूपेण। **"यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे"** इति न्यायेन सृष्टिविज्ञानस्याप्याध्यात्म एव पर्यवसानाद् वेदानामाध्यात्मिक एव मुख्योऽर्थः। स एव केवलभौतिकविज्ञानवादग्रस्तत्रस्तस्य पाश्चात्यजगतः युद्ध-बिभीषिकया च पीडितसंसारस्य क्षेमाय कल्पते।

आधुनिकवेदभाष्यकारेषु स्वामिदयानन्देनेमां त्रिविधार्थप्रक्रियां स्वप्रातिभदृशा साक्षात्कृत्य वेदविषये भगवता मनुना कृता सैव घोषणा पुनरुद्घुष्टा यत् "वेदाः सर्वविद्यानामाकरग्रन्थाः सन्ति। तेषां पठनं पाठनं श्रवणं श्रावणमार्याणां परमो धर्मः" इति। सर्वप्रथमं स्वामिदयानन्देनैव वेदेष्वाध्यात्मिकविद्यया साकं विमान-नौ-तारादि भौतिकविद्यानामप्यस्तित्वं सप्रमाणं प्रादर्शि। **"एकं॒ सद्विप्रा॑ बहु॒धा व॑दन्त्य॒ग्निं य॒मं मा॑त॒रिश्वा॑नमाहुः"** (ऋ. 1-164-46) **यो दे॒वाना॑ं नाम॒धा एक॒ एव।** (ऋग्. 10. 82.3)

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमा॑ः।
तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒ ता आप॒ः स प्र॒जाप॑तिः॥ -(यजु. 32-1)

इत्यादिवेदमन्त्रबलाद् वेदे पाश्चात्यपण्डितैः प्रकल्पितौ बहुदेवतावादः तेन सप्रमाणं खण्डितोऽग्निवाय्वादिवेदशब्दानां च परमेश्वरपरं सुसुन्दरं चारुतरं च व्याख्यानं कृतम्। किन्तु सायणादिवद् हठादाकृष्यवेदशब्दानामग्निवाय्वादीनां तेनाधियाज्ञमेव व्याख्यानं न कृतं येन वेदाः केवलमात्रं यथार्थमेव प्रवृत्ताः यज्ञातिरिक्तं च तेषां न किमप्यन्यत्प्रयोजनमिति लोकमतिर्बभूव। तस्य दुष्परिणामत्वेन वेदानां सर्वविद्यामयत्वादिमहत्त्वपूर्णाः सिद्धान्ताः खपुष्पायिताः सर्वातिशायि तेषां गौरवं विनष्टं वेदाध्ययनं च शशशृंगवत् निरर्थकमभूत्।

इदानींतनेऽपि काले श्रीमदरविन्द-भगवदाचार्यमधुसूदनओझा-दामोदरशर्मझा-स्वामि-

महेश्वरानन्दमण्डलेश्वरादिविद्वद्वरेण्यैर्वेदानामाध्यात्मिकोऽर्थोऽतिरमणीयतया कृतः क्रियते च। सुगृहीतनामधेयानां श्रीमधुसूदनओझामहोदयानां वेदानामाध्यात्मिकाधिदैविकभाष्यं तु नितरां महत्त्वपूर्णमस्ति। श्रीभगवदाचार्यमहोदयैः स्वकीये सामवेदीये "सामसंस्कारभाष्ये" श्रीदामोदरशर्मझामहोदयैः "मन्त्रार्थचन्द्रोदये" स्वामिमहेश्वरानन्दमण्डलेश्वरैश्च "ऋग्वेदसंहितो पनिषच्छतके" अग्न्यादिशब्दानां परमेश्वरपर एवार्थः कृतः। प्रायः सर्वेषामपि वेदशब्दानां **"नाम च धातुजमाह निरुक्ते" "सर्वाणि नामान्याख्यातजानीति"** नैरुक्तसमयानुसारं यौगिकं एवार्थः कृतः। स एव समीचीनो युक्तियुक्तश्च।

वेद ऐतिह्याभ्रमः–

वेदेषु शान्तनु-देवापी-सुदास-विश्वामित्र-कण्वप्रभृतीनामाख्यानानि ऋग्वेदस्य दाशराजयुद्धवर्णलिङ्गानि, तत्र तत्र गंगा-कुभा-असिक्नी-परुष्णी-वितस्ता-यमुना-सिन्धुविपाशादिनदीनां नामानि, मत्स्य-मगध-पुण्ड्र-कोशलादिप्रदेशानामानि च विलोक्य वेदेषु मानुषेतिहासं तर्कयन्ति केचन महाभागाः। किन्तु वेदानां नित्यत्वापौरुषेयत्वादिस्वीकृत्य तत्रानित्यमर्त्यानामितिहासकल्पना कथं सङ्गच्छेतेति तु विचारणीयं सुधीभिः। यत्सत्यं परब्रह्मनिःश्वसितभूतनित्येषु वेदेषु अनित्यमर्त्येतिहासप्रकल्पनं नाम वदतो व्याघात एव। उर्वशीपुरुरवसोः, वशिष्ठविश्वामित्रयोः, इन्द्रवृत्रयोः, इन्द्राहिल्ययोश्च कथांशा उपाख्यानानि च सन्ति बहूनि तत्र। किन्तु न भवन्ति तानि व्यक्तिस्थलदेश विशेषनामानि। तानि तु प्रकृतिनट्या नाट्यमानानां नित्यघटनानामालंकारिकवर्णनान्येव न त्वनित्येतिहास इति यास्क-स्कन्दस्वामि-दुर्गाचार्यप्रभृतीनां नैरुक्तानां सिद्धान्तः। तत्र कोऽयं वृत्रो नाम इति विषये यास्काचार्यः–

"तत्को वृत्रः। मेघ इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रोऽसुर इति ऐतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषां च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति.... .....इत्येव वृत्रकथातत्त्वम्"। नि० 2-16॥ निरुक्तटीकायामाचार्यस्कंदस्वामिना तु वेदे इतिहासवादः स्पष्टं खण्डितः।– **"एवमाख्यानस्वरूपाणां मंत्राणां यजमानेषु नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या, एष शास्त्रे सिद्धान्तः। .....औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः, परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्" नि० 2-12** स्कन्दटीका। निरुक्तसमुच्चये आचार्यवररुचिनाप्ययमेव सिद्धान्तो निगदितः; तद्यथा–

औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्।
परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः॥

एवं प्रजापतेः सुतोपगमनं, इन्द्रस्याहिल्योपगमनमित्याद्याः कथांशाः विभिन्नतात्पर्यत्वेन व्याख्येयाः। व्याख्याताश्च ते तथा प्राचीनाचार्यैर्ब्राह्मणादिग्रन्थेषु। अतो वेदेष्वनित्यमर्त्येतिहासाभाव इत्येव सत्पक्षः।

सार्वभौमवेदसन्देशाः

मानवजीवनस्योन्नत्यर्थमावश्यकानि सर्वाण्यपि तत्त्वानि वेदे साकल्येन समुपभ्यन्ते। तत्र वैय्यक्तिकसामाजिक-राष्ट्रियादिसार्वभौमसमस्यानां सम्यक् समाधानं दरीदृश्यते। तत्र दृश्यमानाः केचन सार्वभौमसिद्धान्ताः संक्षेपतो निर्दिश्यन्ते।

1. एकेश्वेरोपासना

वेदानुसारमस्य ब्रह्माण्डस्य कर्ता धर्ता संहर्ता च एक एव सर्वव्यापकः सर्वशक्तिसंपन्नोऽनाद्यनन्तो दयालुर्न्यायकारी परमेश्वरोऽस्ति। स एव इन्द्रमित्रवरुणाग्नि-यम-ब्रह्म-विष्णु-शिवरुद्रादिनामान्तरैः व्यपदिश्यते। स एवोपास्यो नान्यः। तद्यथा–

इन्द्रं॑ मि॒त्रं वरु॑ण॒मग्निमा॑हु॒रथो॑ दि॒व्यः स सु॑प॒र्णो ग॒रुत्मा॑न्।
एक॒ं सद्विप्रा॑ बहु॒धा व॑दन्त्य॒ग्निं य॒मं मा॑त॒रिश्वा॑नमाहुः॥

ऋ. 1-164-46

मा चि॑द॒न्यद् विश॑ंसत॒ सखा॑यो॒ मा रि॑षण्यत।
इन्द्र॒मित् स्तो॑ता॒ वृष॑ण॒ं सचा॑ सु॒ते मुहु॑रु॒क्था च॑ शंसत॥ ऋ. 8.1.1

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तद॒ु च॒न्द्रमा॑ः।
तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒ ताऽआप॒ः स प्र॒जाप॑तिः॥ यजु. 32-1

2. विश्वबन्धुत्वम्

सर्वे मानवा तस्यैव परमेश्वरस्यामृतपुत्रा भवन्ति। अतस्तैः परस्परं स्नेहसौहार्देन वर्तितव्यम्। तेषु न कोपि ज्येष्ठः न कनिष्ठः।

त्वं हि न॑ः पि॒ता व॑सो॒ त्वं मा॒ता श॑तक्रतो ब॒भूवि॑थ।
अधा॑ ते सु॒म्नमी॑महे॥ ऋ. 8.98.11

यो न॑ः पि॒ता ज॑नि॒ता यो वि॑धा॒ता धामा॑नि॒ वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
यो दे॒वाना॑ं नाम॒धा एक॑ एव तं स॑ंप्र॒श्नं भुव॑ना यन्त्य॒न्या॥

ऋ. 10-82-3

अ॒ज्ये॒ष्ठासो॒ अक॑निष्ठास ए॒ते सं भ्रात॑रो वावृधुः सौभ॑गाय।
युवा॑ पि॒ता स्वपा॑ रु॒द्र ए॑षां सु॒दुघा॒ पृश्नि॑ः सु॒दिना॑ म॒रुद्भ्य॑ः॥

ऋ. 5-60-5

मनुष्यैः परस्परमेव स्नेहसौहार्देन वर्तितव्यमिति न, अपितु सर्वैः प्राणिमात्रैरपि मित्रवत् स्नेहनिर्भरं व्यवहर्तव्यमिति वेदानां महान् संदेशः–

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ य. 36-18

3. परस्परसहयोगः ऐक्यं च

सर्वैः मनुष्यैः मिथः प्रेम्णा वर्तितव्यं, प्रीत्या भाषितव्यं, मनांसि सुसंस्कृतानि संपाद्य सत्कर्तव्यपालनं कर्तव्यं, हृदयैक्यं सुसंपाद्य सर्वदा सहयोगश्च कर्त्तव्य इति महनीयाः वेदसन्देशाः विश्वमानवेभ्यः सन्ति।

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनाꣳसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते॥ ऋ. 10-191-2

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ऋ. 10-191-4

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

-ऋ. 10-191-3

4. त्यागपूर्वः भोगः

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ -यजु. 40.1

इदं सर्वं विश्वं परमेश्वरेण निर्मितं व्याप्तं च। तस्योपरि तस्यैवाधिकारो भवति। तेन मनुष्येभ्यः केवलमुपयोगार्थमेव सर्वाणि वस्तूनि प्रदत्तानि। अतः मनुष्यैस्तेषां त्यागभावेन भोगः कर्त्तव्यो न लोभः ममत्वं वा तेषु करणीयम्। यतो हि धनं न कस्यापि नरस्यापि तु प्रजापतिपरमेश्वरस्यैव। अतो विश्वस्तरूपेणैवास्माभिस्तस्योपयोगः त्यागभावेन कर्त्तव्यः। अस्मिन् वेदमन्त्रे धनस्य स्वामित्वविषयकठिनतमसमस्यायाः समाधानं वर्तते। धनार्थमेव जगति सर्वदा नाना कलहा भवन्ति। धनिकश्रमिकयोर्मध्ये धनस्य स्वामित्व-विषयमधिकृत्य महान् संघर्षः दृश्यते। तेन सर्वत्र वर्गसंघर्षोऽशान्तिश्च वर्धते। किन्तु वेदस्यायमेव यक्षप्रश्नो यत् **'कस्य स्विद्धनम्'** तस्योत्तरमपिप्रश्ने एव निहितं यत् (कस्य) प्रजापतेरेव धनं न कस्याप्यन्यस्य। अतो धनार्थं कलहः न कर्त्तव्यः। कस्मिन्नपि वस्तूनि ममत्वं न स्थापनीयम्। केवलं त्यागभावेन विश्वस्तरूपेण च भोक्तव्यमित्यहो वेदानामनिरसाधारणः उदाराशयः।

5. ब्रह्मप्राप्तिरेव साध्यम्

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

– यजु. 31.18

अज्ञानांधकारात् परं ज्योतिर्मयं परमेश्वरमहं जानामि। यतो हि तं विदित्वैव नरो मृत्युपाशान्मुक्तो भवति। परब्रह्मज्ञानाद्विना मुक्तये न कोऽप्यन्यो मार्गो विद्यते। अतो नरैः ब्रह्मप्राप्तिकामैरेव भाव्यम्।

6. निष्कामकर्मैव साधनम्

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ – यजु–40–2

नरेण सदैव निष्कामकर्म समाचरतैवास्मिन् संसारे शतवर्षपर्यन्तं जीवितुमेषितव्यम्। ब्रह्मप्राप्तिकामेनापि तेन निष्कामकर्म कदापि न त्याज्यमिति वेदादेशः। फलासक्तिरहित–निष्कामकर्म प्रतिपादयन्ती श्रीमद्भगवद्गीताऽस्यैकस्यैव वेदमंत्रस्य सुविशदं भाष्यमस्तीत्यत्र नास्ति कोऽपि संशीतिलेशः अतो वेदकामधेनोरेव दोहनं यदि क्रियतेऽस्माभिस्तर्हि गीता सदृशा असंख्येया अमृतकुंभाः प्राप्तुं शक्या इति यदुक्तं स्व० डॉ. संपूर्णानन्दमहाभागै–स्तत्सर्वथाऽवितथमेव। इति शम्।

✦✦✦

महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षापद्धति का व्यावहारिक पक्ष : एक दृष्टि

(व्यवहारभानु के विशेष संदर्भ में)

- **डॉ. पुष्पेन्द्र जोशी**

सहायकाचार्य, संस्कृत व पालि विभाग,
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

- **अनामिका**

पीएच.डी. शोधार्थी, संस्कृत व पालि विभाग,
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

किसी भी काल की शिक्षा का उद्देश्य मानव जीवन की उन्नति एवं विकास के लक्ष्य से भिन्न नहीं हो सकता। मानव जीवन की सफलता हेतु संयम, नैतिकता, सौहार्द एवं विनम्रता इत्यादि व्यावहारिक गुणों की आवश्यकता होती है। अतः प्रचलित शिक्षापद्धति से यह अपेक्षा की जाती है कि उसमें छात्रों को वांछित गुणों को ग्रहण करवाने का सामर्थ्य हो। वास्तविक रूप मे शिक्षा तभी फलीभूत है जब वह मनुष्य को जीवन के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों में सामंजस्य स्थापित करने के योग्य बना सके। जिससे मनुष्य का जीवन संतुलित एवं उत्तम हो सके।[1]

वैदिक काल में यह माना जाता था कि मनुष्य छात्र जीवन में अनुशासित जीवन व्यतीत करके भविष्य के लिए अद्वितीय शक्ति प्राप्त कर लेता है। उस समय शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मस्तिष्क को अनुशासित करना था ताकि बालक दुराचरण से दूर रह सकें। शिक्षा के माध्यम से बालक की तामसिक और पाशविक प्रवृत्तियों पर नियंत्रण किया जाता था जिससे वह सदसत् का भेद करने में समर्थ होता था। वैदिक युग में शिक्षा एवं शिक्षण पद्धति का व्यवसायीकरण नहीं हुआ था। लोग वास्तविक एवं संपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही विद्या का अध्ययन करते थे।[2] उस समय यह

---

1. कालरा, सरला; 'प्राचीन भारत में लौकिक शिक्षा', साक्षर भारत, जयपुर, 2013, पृष्ठ-424
2. झा, नागेन्द्र (डॉ.); 'वैदिक शिक्षा पद्धति और आधुनिक शिक्षा पद्धति' वेंकटेश प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-2

माना जाता था कि यदि कोई योद्धा युद्ध में शौर्य प्रदर्शित करता है, कोई राजा प्रशासन में सफल होता है, कोई व्यापारी लाभ कमाता है तो यह उसके छात्र जीवन की शिक्षा का ही परिणाम है। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक युगीन शिक्षापद्धति व्यवहारपरक थी।[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक शिक्षापद्धति को आधार बनाकर ही अपनी पठन-पाठन की व्यवस्था प्रस्तुत की। शिक्षा के सैद्धांतिक रूप के साथ-साथ उन्होंने छात्रों को जीवनोपयोगी व्यावहारिकता का ज्ञान देने के लिए व्यावहारिक-शिक्षा से संबंधित पुस्तकों की रचना भी की। उन्होंने इस बात को भलीभांति अनुभव किया कि ग्रहण की हुई शिक्षा जब तक व्यावहारिक रूप धारण नहीं करती तब तक शिक्षा मात्र औपचारिकता बनकर रह जाती है।

दयानन्द शिक्षा को व्यवहार एवं आचरण में लाने के पक्षधर थे। उन्होंने विद्यार्थियों को व्यावहारिक शिक्षा का ज्ञान देने के लिए व्यवहारभानु जैसी लघु पुस्तकों की रचना की ताकि इन सरल एवं सुबोध पुस्तकों से सहज ही शिक्षा लेकर मनुष्य अपने आचरण एवं व्यवहार में सुधार ला सके। जैसे कि पठन-पाठन व्यवस्था के संदर्भ में दयानन्द की तृतीय पुस्तक व्यवहारभानु की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट उद्घोष किया है कि इसको रचने का उद्देश्य मात्र इतना है कि इस से प्रेरित होकर मनुष्य स्वयं का, अपनी संतान का और विद्यार्थियों का आचरण उत्तम करे जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य स्वयं भी सुखी रहेगा और संतान एवं विद्यार्थी भी सुखी रहेंगे।[2] यह पुस्तक मार्च, 1880 में वैदिक यन्त्रालय, वाराणसी से प्रकाशित हुई थी। सदाचार और सद् व्यवहार के कितने ही विषयों का इसमें प्रश्न और उत्तर के रूप में प्रतिपादन है और विषय को स्पष्ट करने के लिए कतिपय कहानियाँ भी इसमें दी गई हैं। गुरु और शिष्य, पति और पत्नी, माता-पिता और सन्तान, राजा और प्रजा आदि में परस्पर क्या सम्बन्ध होना चाहिए, सत्य का क्या स्वरूप है, ब्रह्मचर्य के क्या लाभ हैं, कारोबार और व्यापार में नैतिकता और औचित्य के किन नियमों का पालन किया जाना चाहिए वे तथा इसी प्रकार के कितने ही विषय हैं, जिनका इस पुस्तक में रोचक व हृदयग्राही रूप से निरूपण किया गया है। पुस्तक हिन्दी में है। इसकी भाषा इतनी सरल और शैली इतनी आकर्षक है, कि इसे हिन्दी गद्य के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।[3]

1. झा, नागेन्द्र (डॉ.); 'वैदिक शिक्षा पद्धति और आधुनिक शिक्षा पद्धति' वेंकटेश प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-15
2. दयानन्द सरस्वती स्वामी; 'व्यवहारभानु', वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, सं. 1957, भूमिका
3. विद्यालंकार, सत्यकेतु एवं वेदालंकार हरिदत्त; 'आर्य समाज का इतिहास', प्रथम भाग, आर्य स्वाध्याय केंद्र, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण भाग 1, पृष्ठ-671

इस लघु पुस्तिका में प्रत्येक आयुवर्ग के मनुष्य के लिए उपयोगी व्यवहारों तथा शिष्टाचारों की शिक्षा दी गई है। इसमें मनुस्मृति, महाभारत, निरुक्त इत्यादि अनुकरणीय ग्रंथों से लिए गए उदाहरण, रोचक दृष्टांत कथाएं एवं उपाख्यान इसकी रोचकता को बढ़ाते हैं।

शिक्षा परिवर्तन का सक्षम साधन है। अत: महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने छात्रों को व्यावहारिक रूप से भी शिक्षित करने का प्रयास किया। शिक्षा को परिभाषित करते हुए दयानन्द कहते हैं कि जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति और अविद्या आदि दोषों को छोड़कर सदा आनंदित हो सकें वह शिक्षा कहलाती है।[1]

विद्या और अविद्या के अंतर को स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं कि जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेकर अपने और दूसरों के लिए सब सुखों को सिद्ध कर सकें वह विद्या और जिससे पदार्थों के स्वरूप को विपरीत जानकर अपना और पराया अनुभव करें वह अविद्या कहलाती है।[2]

उन्होंने शिक्षा को एक निश्चित आयु मात्र से न जोड़कर जीवन पर्यंत चलने वाली प्रक्रिया माना है। दयानन्द के अनुसार सब मनुष्यों को सुशिक्षा से युक्त होना चाहिए इसलिए यह बालक से लेकर वृद्धपर्यंत मनुष्यों के सुधार के लिए व्यवहार संबंधी शिक्षा का विधान किया जाता है।[3] वास्तविक रूप में शिक्षित मानव वही है जिसका शिक्षित होना उसके व्यवहार में दृष्टिगोचर हो। महाभारत से उदाहरण लेकर दयानन्द ने विद्या ग्रहण के चार प्रकारों का वर्णन किया है- आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहार काल।

अंतत: इन्होंने व्यवहार में प्रदर्शित करने को ही विद्या की परिणति माना है।[4]

विद्यार्थियों को सचेत करते हुए दयानन्द लिखते हैं कि विद्यार्थी विषयों के सुख से अवश्य अलग रहें नहीं तो परम धर्म रूप विद्या का पढ़ना-पढ़ाना कभी नहीं हो सकेगा।[5]

स्वामी दयानन्द शिक्षा को विद्यार्थियों के लिए ही तप नहीं मानते थे अपितु इसको प्रदान करने वाले आचार्यों से भी उतने ही कठोर तप की अपेक्षा रखते थे।

1. दयानन्द सरस्वती स्वामी; 'व्यवहारभानु', वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, सं. 1957, पृष्ठ-1
2. वही, पृष्ठ 7
3. वही, पृष्ठ 8
4. शास्त्री, कपिल देव एवं पांडे, श्रीकांत (समीक्षक); 'यास्कीय हिंदी निरुक्त', साहित्य भंडार, मेरठ, 1999, प्रथम अध्याय, द्वितीयपाद, पृष्ठ-35
5. दयानन्द सरस्वती स्वामी; 'व्यवहारभानु', वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, सं. 1957, पृष्ठ-6

आचार्य के गुणों पर प्रकाश डालते हुए दयानन्द लिखते हैं कि जो विद्यार्थियों को अत्यंत प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षापूर्वक विद्या देने के लिए तन मन और ध न से प्रयत्न करें उसे आचार्य कहते हैं।[1]

विद्यार्थी को चाहिए मिथ्या को छोड़कर सदैव सत्य बोले, सरल रहे, अभिमान न करे, गुरु की आज्ञा का पालन करे, स्तुति करे निंदा न करे, गुरु से सदैव नीचे आसन पर बैठे शांत रहे चपलता न करे, आचार्य द्वारा डांटे जाने पर भी प्रसन्न रहे, कभी क्रोध न करे, जब भी गुरु कुछ पूछे तो हाथ जोड़कर विनम्रता से उत्तर दे, घमंड से ना बोले, जब वह शिक्षा दे तो ध्यान से सुने उसे मजाक में न उड़ाए, शरीर और वस्त्रों को शुद्ध रखे, जो कुछ भी प्रतिज्ञा करे उसको पूर्ण करे, इंद्रियों को जीतने वाला हो, चंचल व्यवहार न करे, उपकार करने वाले के प्रति कृतज्ञ रहे, जिस-जिस कर्म से विद्या की प्राप्ति हो उस कर्म को करता जाए, जिन बुरे कामों से काम, क्रोध लोभ, मोह, भय और शोक आदि विद्या के विरोधी अवगुण उत्पन्न हो उन कामों को छोड़कर सदैव ही उत्तम गुणों की कामना करें।

दयानन्द के अनुसार विद्या द्वारा यथार्थ ज्ञान से युक्त होकर, यथा योग्य व्यवहार करने-कराने से आप और दूसरों को आनंद युक्त करना विद्या का फल है क्योंकि बिना विद्या के किसी मनुष्य को निश्चल सुख नहीं हो सकता।[2]

उत्तम गुणों की प्रशंसा करते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि मनुष्य के उत्तम गुण उसके बुरे काम और दुखों को नष्ट करके सर्वोत्तम धर्मयुक्त कर्मों और सब सुखों को प्राप्त करवाने वाले होते हैं और इन्हीं के द्वारा मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी बन सकते हैं।[3]

आचार्य किस प्रकार से विद्या और सुशिक्षा को विद्यार्थियों को ग्रहण करवाए इसका उत्तर देते हुए वह कहते हैं कि आचार्य समाहित हो कर इस प्रकार शिक्षा ग्रहण करवाए जिससे विद्यार्थी की आत्मा के भीतर अर्थ सुनिश्चित हो जाए और उसका उत्साह बढ़ता जाए, वह ऐसी चेष्टा और कर्म कभी न करे जिसको करके या देखकर विद्यार्थी अधर्म युक्त हो जाए।[4]

श्री अरविन्द के शब्दों में, "आवश्यक बात यह है कि उन्होंने (स्वामी दयानन्द ने) वेद को युगों से चले आने वाले भारत की चट्टान समझा तथा उनमें यह साहसपूर्ण कल्पना थी कि वे उसी वेद पर अपने सुधार का निर्माण करें जिस वेद

---

1. दयानन्द सरस्वती स्वामी; 'व्यवहारभानु', वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, सं. 1957, पृष्ठ-8
2. वही, पृष्ठ-13
3. दयानन्द सरस्वती स्वामी; 'व्यवहारभानु', वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, सं. 1957, पृष्ठ-7
4. वही, पृष्ठ-13

में उनकी तीक्ष्ण दृष्टि ने एक समूची राष्ट्रीयता के दर्शन किये थे।"[1]

तत्पश्चात् श्रेष्ठ बुद्धि धारण करने वाले पंडित के लक्षण बताते हुए दयानन्द कहते हैं कि- जो मनुष्य प्राप्त होने के अयोग्य पदार्थों की कभी इच्छा नहीं करते, किसी पदार्थ के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर शोक करने की अभिलाषा नहीं करते और बड़े-बड़े दुखों से युक्त व्यवहार की प्राप्ति में भी मूढ़ होकर घबराते नहीं वह मनुष्य पंडितों की बुद्धि से युक्त होते हैं।[2]

मानवीय व्यवहार से संबंधित अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं व्यावहारिक बात को दयानन्द ने विदुर नीति से उदाहरण लेते हुए कहा है

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥

अर्थात् जो बिना बुलाए जहां-तहां सभा आदि स्थानों में प्रवेश करके सत्कार और उच्च आसन को चाहे अथवा ऐसी रीति से बैठे कि उसका आचरण अप्रिय विदित हो, बिना पूछे ही इधर-उधर की व्यर्थ बातें करे, बिना जान-पहचान वालों में विश्वासी होकर अपने सुख की हानि कर ले वही मनुष्य मूढ़ बुद्धि और मनुष्यों में नीच कहलाता है।[3]

इसके अतिरिक्त जीवन में सफलता हेतु परिश्रम का महत्व दर्शाते हुए दयानन्द ने स्पष्ट किया है कि कर्म ही मनोरथ पूर्ति का उत्तम साधन है इसके विपरीत जो पदार्थों की प्राप्ति में उत्साहित दिखता है उस मनुष्य को विद्वान लोग मूर्ख कहते हैं। मूर्ख के लक्षण बताते हुए उन्होंने लिखा है कि-जो किसी विद्या को न पढ़ और किसी विद्वान् का उपदेश न सुन बड़ा घमंडी, दरिद्र होकर धन संबंधी बड़े-बड़े कामों की इच्छा वाला और बिना कुछ किए ही बड़े-बड़े फलों की इच्छा करने वाला होता है वह मूर्ख है।[4]

इस प्रकार बिना परिश्रम किए ही फल की प्राप्ति की इच्छा करने वाले को दयानन्द ने मूर्ख की उपाधि दी है। सभा आदि में जाने पर मनुष्य का व्यवहार कैसा होना चाहिए इस पर दृष्टिपात करते हुए दयानन्द कहते हैं कि जब सभा में जाएं तो दृढ़ निश्चय करके कि मैं सत्य को जीत लूंगा और असत्य को हरा दूंगा। अभिमान

1. विद्यालंकार, सत्यकेतु एवं वेदालंकार हरिदत्त; 'आर्य समाज का इतिहास', प्रथम भाग, आर्य स्वाध्याय केंद्र, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृष्ठ-177
2. दयानन्द सरस्वती स्वामी; 'व्यवहारभानु', वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, सं. 1957, पृष्ठ 2-4
3. जगदीश्वरानंद सरस्वती स्वामी (अनुवादक); 'विदुरनीति विदुरप्रजागर', विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशन, दिल्ली, 2016, 1/38, पृष्ठ-22
4. दयानन्द सरस्वती स्वामी; 'व्यवहारभानु', वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, सं. 1957, पृष्ठ-03

न रखें,अपने आप को बड़ा न माने। आपकी बात का कोई खंडन करे तो उस पर क्रोधित या अप्रसन्न न हो, जो कोई कहे उसके वचन बहुत ध्यान देकर, सुन कर उसमें कुछ असत्यभान हो तो उस अंश का खंडन अवश्य करें और जो सत्य हो तो प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करें।[1]

न केवल दैनिक व्यवहार अपितु मित्रों, पड़ोसियों एवं स्वामी सेवक के साथ कैसा व्यवहार करें इसके बारे में बात करते हुए वह लिखते हैं कि पड़ोसियों के साथ ऐसा बर्ताव करें जैसा अपने शरीर के लिए करते हैं मित्रादि के लिए भी ऐसे ही कर्म करें। स्वामी सेवक के साथ ऐसा बर्ताव करें जैसा अपने हाथ-पैर आदि अंगों की रक्षा के लिए करता है और सेवक स्वामियों के लिए ऐसे बरतें जैसे अन्न, जल, वस्त्र और घर आदि शरीर की रक्षा के लिए होते हैं।[2]

विवाह के पश्चात् पुरुष और स्त्री एक-दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करें इस पर बात करते हुए कहा गया है कि वह एक दूसरे को देखकर प्रसन्न हो, एक दूसरे की सेवा करें। पति भोजन, वस्त्र, आभूषण एवं प्रियवचन आदि व्यवहारों से स्त्री को सदा प्रसन्न रखे और घर के सब कृत्य उसके अधीन करे। स्त्री भी अपने पति से प्रसन्न वदन, खानपान, प्रेमभाव आदि से उसको सदा हर्षित रखे। परस्पर प्रीति के बिना न गृहस्थाश्रम का किंचित सुख, न उत्तम संतान, न प्रतिष्ठा और न लक्ष्मी आदि श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति होती है।[3]

सब कुछ जान कर भी बुरे कर्म करने वाले मनुष्य की तुलना दयानन्द ने चोर के साथ की है। वह कहते हैं विद्या का यही फल है कि जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जानकर भी न किया और बुरा जानकर न छोड़ा तो क्या वह चोर के समान नहीं है क्योंकि चोर भी चोरी को बुरा जानता हुआ भी करता है।[4]

सत्पुरुष का लक्षण बताते हुए दयानन्द कहते हैं कि जैसा आत्मा का ज्ञान वैसा वचन, जैसा वचन वैसा कर्म करना सत्पुरुषों का लक्षण है और जिसके आत्मा और वचन से विरुद्ध कर्म है वह असत्पुरुष है।[5]

दयानन्द के अनुसार जितने भी मनुष्य से भिन्न प्राणी हैं उनमें दो प्रकार का स्वभाव है- बलवान से डरना, निर्बल को डराना और पीड़ा देखकर दूसरे के प्राण

---

1. दयानन्द सरस्वती स्वामी; 'व्यवहारभानु', वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, सं. 1957, पृष्ठ-17
2. वही, पृष्ठ-21
3. वही, पृष्ठ-29
4. वही, पृष्ठ-27
5. वही, पृष्ठ-25

निकालकर अपना मतलब सिद्ध कर लेना और जो मनुष्य ऐसा ही स्वभाव रखता है उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है मनुष्य योनि में नहीं।[1]

इस प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने व्यावहारिकता के धरातल पर शिक्षा को सार्थक स्वरूप देने का प्रयास किया था जो विद्यार्थियों में मानवीय मूल्यों एवं संवेदनाओं को विकसित कर सके।

निष्कर्ष:

परिवर्तन प्रकृति का अटल नियम है। अत: मनुष्य को जीवन में प्रत्येक स्थिति का सामना करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब शिक्षा के माध्यम से ग्रहण किए विचारों एवं सिद्धांतों को व्यवहारपरक दृष्टि से आत्मसात् किया जाए। स्वामी दयानन्द ने अपनी शिक्षा पद्धति में व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों पक्षों को समाहित करने का प्रयास किया।उनके मत में व्यक्ति, समाज और राज्य की उन्नति तथा सुख समृद्धि उसी दशा में संभव है जब सब स्त्री पुरुष सुशिक्षित हों सबको धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्य का समुचित ज्ञान हो और विद्या तथा विज्ञान को सबके हित कल्याण के लिए प्रयुक्त किया जाए। मानव समाज के हित, कल्याण तथा उन्नति के लिए जो भी विचार महर्षि ने प्रस्तुत किए हैं उन सब को क्रियात्मक रूप देने के लिए उन्होंने उत्तम शिक्षा का ही आश्रय लिया।

✦✦✦

1. दयानन्द सरस्वती स्वामी; 'व्यवहारभानु', वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, सं. 1957, पृष्ठ-30

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 18 (30-38) January-June 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

श्रीअरविन्द का समग्र योगः एक दृष्टिपात

-डॉ. श्रुति मिश्रा
सहायक आचार्या, दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रीअरविन्द दिव्य जीवन के साक्षात्कार को जीवन का प्राप्तव्य मानते हैं। यह जीवन सीमित चेतना का जीवन नहीं है अपितु बंधन मुक्त चेतना का सर्वाङ्ग जीवन है। श्रीअरविन्द *'दिव्य जीवन'* में इस संदर्भ में प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि हममें प्रकृति का लक्ष्य यही है कि हम पूर्णता में विद्यमान रहें।[1] श्रीअरविन्द ने विकास की प्रक्रिया का परम उद्देश्य 'दिव्य जीवन' को ही माना है। वस्तुतः दिव्य जीवन भविष्य की अवश्यम्भाविता है जिसे स्थापित होना ही है। यह स्थापना शीघ्रता से हो अथवा विलम्ब से किंतु यह अवश्यम्भावी है। यद्यपि यह तो स्पष्ट है कि आध्यात्मिक क्रियाकलापों के द्वारा इसकी गति को तीव्र किया जा सकता है। दिव्य के इस अवतरण की इस प्रक्रिया को आध्यात्मिक कर्मों द्वारा तीव्र किया जा सकता है। आत्मोन्नति के साधन के रूप में योग की महत्ता को प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में स्वीकार किया गया है। वेद, स्मृति तथा पुराणों में योग का यथेष्ट वर्णन मिलता है।

श्रीअरविन्द स्वयं एक योगी थी उन्होंने न केवल दार्शनिक सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है अपितु एक विशेष साधन मार्ग का भी वे प्रतिपादन करते हैं। भारतीय दर्शन में सैद्धान्तिक पक्ष के साथ-साथ व्यवहारिक साधन पक्ष का एक अविच्छेद्य सम्पर्क रहता है। इस साधन पक्ष को ही हमारी परम्परा में योग कहा जाता है। भारतीय दर्शन के इतिहास में विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों में भेदों के होते हुए भी सभी दर्शनों का सैद्धान्तिक लक्ष्य प्रायः एक सा ही था अर्थात् व्यक्तिगत मुक्ति। मुक्ति की धारणाओं में न्यूनाधिक भेद के कारण व्यवहारिक साधन मार्ग में भी भेद दृष्टिगोचर होते हैं जैसे ज्ञान तथा भक्ति मार्ग में भेद परंतु अंतिम लक्ष्य या ध्येय में बहुत बड़े भेद के न होने के कारण प्रायः साधक सैद्धान्तिक आधार पर योग मार्ग

---

1. The Life Divine, Sri Aurobindo; Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry,1955, pg.no. 907

का निर्वचन न करके अपनी प्रकृति के अनुकूल मार्ग का ही अनुसरण करते हैं।[1]

प्रत्येक प्रकार के योग का लक्ष्य परमात्मा अथवा उससे एकत्व की प्राप्ति है। प्रायः, सभी योग दर्शन यह मानते हैं कि सभी अशुभ रूपों के मूल में जीव का अनन्त से अलग होना है। अतः उन सभी के अनुसार योग का लक्ष्य इन सब विषमताओं से ऊपर उठकर, ससीम तथा असीम के मौलिक तत्व को प्राप्त कर लेना है। श्रीअरविन्द भी योग के इसी विचार को अपने ढंग से स्वीकारते हैं किन्तु उनका स्पष्ट प्रयत्न है कि वे योग विचार को भी अपनी तात्विक मान्यताओं के अनुसार सुव्यवस्थित करें।[2]

वर्तमान समय में भारतीय योग के विषय में पूरे संसार भर में पर्याप्त जिज्ञासा की निर्मिति हो चुकी है। दार्शनिकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से उसकी व्याख्या की है। श्रीअरविन्द का भी योग के विषय में एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। उनके अनुसार समग्र संसार, प्रकृति का कुल व्यापार, हमारा सारा जीवन अपने आप में एक विशाल योग ही है। योग अर्थात् अपूर्णता से पूर्णता की ओर, अवनत अवस्था से उन्नतत्व की ओर, सीमित अवस्था से अनन्त असीम सत्य की ओर प्रगति तथा उसकी प्राप्ति का सतत प्रयास। प्रकृति की, निसर्ग की, विश्व की प्रत्येक गतिविधि अन्ततोगत्वा उसी दिशा में होती है। बात इतनी ही है कि साधारणतः यह क्रिया अत्यन्त धीमी तथा अव्यवस्थित तरीके से होती है। तदनंतर जब वही प्रयास हेतुपूर्वक निश्चित पद्धति से जागृत चेतना द्वारा किया जाता है उसे विशेष रूप से योगसाधना कहते हैं।[3]

प्राचीन काल से भारतवर्ष में इस योग की हठयोग, राजयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि पद्धतियाँ प्रचलित हैं। उनसे विशेषता दर्शाते हुए श्रीअरविन्द अपने योग को एकीकृत योग (Integral Yoga) कहते हैं। उनके अनुसार पुराने योग सम्प्रदाय आंशिक होकर व्यक्तित्व के किसी एक अंग का ही स्पर्श करते हैं। श्रीअरविन्द एक ऐसे योग का प्रतिपादन करना चाहते हैं जिसमें इन सबका उचित मात्रा में समावेश हो और इन सबकी तुलना में पूर्ण हो। इसकी साधना से साधक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व, उसकी समग्र चेतना, सच्चिदानन्दस्वरूप परम सत्ता से एकरूपता

---

1. श्रीअरविंद दर्शन; डॉ. ए.सी.भट्टाचार्य, जगबन्धु प्रकाशन; श्रीरामकृष्ण भवन, ज्ञानपुर (वाराणसी) पृ. 229
2. समकालीन भारतीय दर्शन; बसन्त कुमार लाल; मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली,1991, पृ. 947
3. भारतीय दार्शनिक निबन्ध; डॉ. डी.डी. बंदिष्टे तथा रमाशंकर शर्मा (2008), मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी (निबंध- श्री अरविंद की अतिमानस तथा दिव्य जीवन की अवधारणा, प्रो. ग.वा.कवीश्वर; पृ. 379)

प्राप्त कर सकती है।[1]

श्रीअरविन्द के अनुसार प्रथम विकास की प्रक्रिया वैयक्तिक तथा जगत् दोनों स्तरों पर एक विशेष अवस्था पर पहुंची है। विकास प्रक्रिया आध्यात्मिक क्षेत्र में छलांग लगाने को उद्यत है। श्रीअरविन्द के अनुसार योग का कार्य है इस छलांग को सहज बना दे और इसकी संभावना को और अधिक निकट ला दे। द्वितीय, विकास प्रक्रिया का चरम लक्ष्य एक ऐसे दिव्य जीवन की स्थापना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अज्ञान के क्षेत्र से बाहर निकल कर ज्ञानपुरुष में परिणत हो जाएगा। श्री अरविन्द का यह भी विश्वास है कि दिव्यजीवन को आना ही है किंतु समग्र योग के द्वारा आने की गति को तीव्र किया जा सकता है। तृतीय, जीवन प्रक्रिया ही योग प्रक्रिया है क्योंकि जीवन का प्रत्येक कार्य एक दृष्टि से मूल एकत्त्व की ओर प्रेरित है। सच्चिदानन्द ही अन्तिम छोर जड़ तत्व तक में अपने को निक्षेपित किए हुए है। साधारण जीवन में हमें यह चेतना नहीं रहती है कि हमारी सारी प्रक्रिया एकत्व की ओर प्रेरित है। योग एकत्व की ओर प्रेरित होने और अपनी क्रियाओं को निस्सीम होने की चेतना प्रदान करता है। दिव्य जीवन की अनुभूति के लिए आंतरिक जीवन आवश्यक है। हमें अपने सम्पूर्ण बाह्य व्यक्तित्व को, अनुभूति एवं क्रिया को उसी आंतरिक जीवन का पूर्ण साधन बनाना होगा। दिव्यता सत्य ही नहीं होती। यदि वह आंतरिक नहीं है तो इसे अपने में विकसित करना है, अपने में जीना है और तभी इसे प्राप्त किया जा सकता है।[2]

भारतीय दार्शनिक परम्परा में श्रीअरविन्द का दर्शन एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाता है। किसी दार्शनिक मतवाद के सैद्धान्तिक लक्ष्य के अनुरूप यदि व्यवहारिक साधन पक्ष का निर्माण होना आवश्यक समझा जाए तो श्रीअरविन्द के दर्शन का सैद्धान्तिक लक्ष्य परम्परागत भारतीय दर्शन से अलग है। अतः श्रीअरविन्द के योग मार्ग का पूर्णतया विलक्षण होना अनिवार्य है। सैद्धान्तिक विभेदों के होते हुए भी भारतीय सम्प्रदायों का मूल ध्येय तथा लक्ष्य प्रायः एक सा ही रहा है। भावात्मक दृश्य से वह लक्ष्य है-व्यक्तिगत मुक्ति, कैवल्य या निर्वाण और निषेधात्मक दृष्टि से आत्यन्तिक दुःख निवारण या जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति। विदेहमुक्ति या जीवनमुक्ति की अवधारणा का उल्लेख यद्यपि भारतीय दर्शन में सर्वत्र प्राप्त होता है किंतु श्रीअरविन्द सर्वमुक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। वे इस मृत्युलोक में अमृतत्व का आश्वासन देते हुए इसी पार्थिव जीवन में ही दिव्य जीवन की निश्चित सम्भावनाओं का उल्लेख करते हैं। उनका यह सिद्धांत विकासवाद पर आधारित है।

---

1. भारतीय दार्शनिक निबन्ध, पृ. 379
2. The Life Divine, Sri Aurobindo, pg. 889

विकासवाद की इस प्रक्रियानुसार उस लक्ष्य अर्थात् अति मानसिक स्तर तक हमारा पहुंचना अनिवार्य है। मनुष्य इस विकास को त्वरान्वित कर सकता है। इसी विकास प्रक्रिया को त्वरान्वित करने हेतु श्रीअरविन्द के दर्शन में योग साधना का मार्ग प्रशस्त किया गया है। स्वाभाविक है कि सैद्धान्तिक ध्येय की नवीनता के अनुरूप श्रीअरविन्द का योग मार्ग भी नवीन है। इसी नवीन योग मार्ग को श्री अरविन्द सर्वाङ्गीण अथवा समग्र योग कहते हैं। श्रीअरविन्द समग्र योग के उद्देश्य को बताते हुए कहते हैं, इसका उद्देश्य केवल सामान्य वैश्विक अज्ञान-चेतना से दिव्य चेतना में उत्थान नहीं बल्कि उस दिव्य चेतना की अति मानसिक शक्ति को मन, प्राण तथा शरीर के अज्ञान में अवतरित करना तथा उन्हें इस प्रकार रूपांतरित करना जिससे वे यहां पर दिव्यता को अभिव्यक्त कर सकें और जड़ में दिव्य जीवन की सृष्टि सम्भव हो सके।[1]

इसका ध्येय व्यक्तिगत मुक्ति नहीं वरन संपूर्ण मानवजाति को अज्ञान, अन्धकार तथा मृत्यु से ज्ञान, प्रकाश तथा अमृतत्व की ओर ले जाने के लिए एक महान् मार्ग है।

हमारी सत्ता के दो छोर हैं- एक जड़ तथा दूसरा आत्मा। दोनों के बीच पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करना ही श्रीअरविन्द के योग मार्ग का एकमात्र लक्ष्य है। पार्थिव जीवन की अपनी सार्थकता के कारण मानव जड़वादी बन गया। इस भौतिक जगत् को ही एकमात्र सत्य समझ कर वह इसी में अपने जीवन की चरम सार्थकता ढूंढने लगता है। श्री अरविन्द का समग्र योग प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों में सामञ्जस्य पूर्ण समन्वय प्रस्तुत करता है। इसका लक्ष्य न इस सांसारिक जीवन से छुटकारा पाकर विलीन होना है और न ही इस भौतिक जीवन के अन्य सुख के स्रोत में स्वयं को प्रवाहित कर देना है। इसी पृथ्वी पर ही रोग शोक जरा और मृत्यु से मुक्त अमृतमय दिव्य जीवन को विकसित करने का ध्येय रखता है। श्रीअरविंद की भी इस संदर्भ में उक्ति बहुत स्पष्ट है जब वे अपने ग्रंथ *'सिन्थेसिस ऑफ योग'* में कहते हैं कि, 'वास्तविक मुक्ति पाठक जीवन का बहिष्कार नहीं अथवा यह आध्यात्मिक विनाश से व्यक्ति का पलायन ही है, जिस प्रकार वास्तविक त्याग केवल परिवार और समाज का भौतिक परिहार नहीं यह तो ईश्वर के साथ आंतरिक तादात्म्य में है।'[2]

---

1. Lights on Yoga, Sri Aurobindo; Sri Ashram Publication, Pondicherry, 9th edition, 1991, pg. 69.
2. The Synthesis of Yoga, Sri Aurobindo; Sri Aurobindo Ashram Publication, Pondicherry 1971, pg.2

शरीर, मन और दिव्य अस्तित्व प्रकृति विकास के तीन स्तर हैं। इस जगत् में हमारी देह हमारे अस्तित्व का अधिष्ठान है। हमारा मन हमारी देह को और विकसित एवं उपादेय बनाकर संपूर्णता की ओर अग्रसर करता है। वहीं दिव्य अस्तित्व शरीर तथा मन को उनकी उच्चतम संभावनाओं का साक्षात्कार कराता है। देह तथा मन की यह उपलब्धि योग के लक्ष्य का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है।

श्रीअरविन्द ने योगयुक्त होकर कर्म का उपदेश करने वाले श्री कृष्ण के कर्म योग को अपने समग्र योग में नवीन प्रकार से व्याख्या एक किया है। जीवन वस्तुतः पलायन नहीं अपितु जीवन एक कुरुक्षेत्र हैं जिसमें निरंतर युद्ध करने की आवश्यकता है। श्रीअरविन्द की योग साधना का भी यही मंत्र है।[1]

वस्तुतः, श्रीअरविन्द के समग्र योग की सिद्धि किसी साधक की बौद्धिक क्षमताओं पर निर्भर नहीं करती अपितु सत्य के सानिध्य और उसके साक्षात्कार की पिपासा का ही यहाँ अधिक महत्व है। वस्तुतः, योग की परिपूर्ति के लिए आत्मत्याग और आत्मसमर्पण के साथ वास्तविक साधना अधिक फलदायी है जिसके द्वारा मन, प्राण तथा शरीर का पूर्ण रूपान्तरण सम्भव हो सके। अतः, यह समग्र योग आत्मसमर्पण पर अत्यधिक बल देता है। श्रीअरविन्द अपने योग को सर्वांगीण अथवा समग्र इसलिए कहते हैं कि यह विभिन्न योग मार्गों का समन्वय करता है। इसी कारण योग विषयक उनका प्रमुख ग्रंथ 'सिंथेसिस ऑफ योगा' इसी समन्वय की ओर संकेत करता है। श्रीअरविन्द के समग्र योग में ज्ञान, भक्ति तथा कर्म का समुचित समन्वय होता है। साधक की आवश्यकताओं के अनुसार इसमें अन्य योगों का यथोचित समन्वय किया जा सकता है। योग साधना के अलग-अलग मार्गों का श्रीअरविंद के समग्र योग में समन्वय होने से उनकी एकाग्रता स्वयमेव नष्ट हो जाती है और यह सभी एक दूसरे को स्वयं में समाविष्ट कर लेते हैं।

हठयोग का ध्येय है शरीर तथा प्राणशक्ति पर अधिकार प्राप्त कर लेना जिससे उन्हें ईश्वरीय सानिध्य प्राप्त हो सके। समग्र योग में यद्यपि हठयोग का समावेश होता है किंतु समग्र योग की पूर्ण योगी को हठयोगी के समान कष्ट कर साधना में नहीं उतरना पड़ता।[2]

राजयोग चित्तवृत्तियों के निरोध से मन को शान्त, एकाग्र तथा स्थिर बनाने का प्रयत्न करता है। इसके लिए अष्टाङ्ग योग की साधना में प्रवृत्त होता है। वह यम, नियम के पालन से नैतिक जीवन का गठन सर्वप्रथम करता है। अन्ततः, प्रत्याहार

---

1. तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
   मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ 8/7,श्रीमद्भगवद्गीता
2. श्रीअरविंद दर्शन; डॉ. ए.सी.भट्टाचार्य, पृ. 234

से मानसिक विकारों को कुचलकर इष्ट में मन को एकाग्र करने का प्रयास करता है। सर्वाङ्गीण योग में राजयोग का मूल उद्देश्य सम्मिलित है। मानसिक शान्ति चित्त की एकाग्रता तथा वासनाओं से मुक्ति सर्वाङ्गीण योग की आधारभूमि हैं। 'ध्यान' पूर्ण योग का मुख्य साधन है किंतु पूर्ण योग चित्त वृत्तियों का निरोध नहीं करता न ही नैतिकता पर अत्यधिक बल देता है। पूर्णयोग में साधक अपनी साधना से एक ऐसी अवस्था में पहुंचता है जिसमें चित्र की स्थिरता शांति तथा एकाग्रता उसके स्वभाव का अङ्ग बन जाता है।[1]

कर्मयोग पर श्रीअरविन्द सर्वाधिक बल देते हैं। कर्मयोग की व्याख्या उन्होंने गीता में उल्लिखित फलाशारहित, निष्काम तथा विशुद्ध ईश्वरार्पण वृद्धि से किए गए कर्म के आधार पर की। समग्र योग में भक्ति योग का भी अति सुन्दर समन्वय है। पूर्ण योगी परम भक्त होगा परन्तु किसी विशेष ईश्वरीय रूप में श्रद्धा करता हुआ दूसरों के प्रति द्वेष नहीं रखेगा। योगी के लिए भक्त होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि भक्ति में ही वह शक्ति है जिससे भगवान भक्त के समीप खिंचे चले आते हैं। ईश्वर ही उसका सर्वस्व है। ईश्वर के लिए ही वह जीता है। ईश्वर के लिए ही वह सब कुछ करता है। वह न मुक्ति चाहता है ना सिद्धियां ही। इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वांगीण योग भक्ति योग से ओत-प्रोत है।[2]

समग्र योग जिसे श्रीअरविन्द पूर्ण योग भी कहते हैं ज्ञान योग को भी अपने में समाविष्ट करता है। पूर्ण योग में ज्ञान की साधना होगी लेकिन इस साधना के साथ प्रकृति, सृष्टि तथा समाज की उपेक्षा नहीं होगी। अज्ञान की इस सृष्टि में अतिमानसिक चेतना को अभिव्यक्त करना सर्वांगीण योग का मुख्य ध्येय है इसलिए अज्ञान के अन्धकार में पड़े चौत्य पुरुष की ज्वाला को अविद्या के आवरण से मुक्त करना परम आवश्यक है। अत: ज्ञान की साधना भी अनिवार्य है। जैसे-जैसे कामना और वासना की ग्रन्थियां टूटती जाएंगी वैसे-वैसे अन्तरात्मा का विकास होता रहेगा। देशप्राण मन से युक्त अहम भावना को दूर कर उच्चतर मनस्, प्रदीप्त मनस्, स्वानुभूति तथा अधि- मानस के विभिन्न स्तरों से होता हुआ पूर्ण योगी अति मानस के द्वार पर पहुंचता है। ज्ञान की इस साधना में वह देह, प्राण, मन आदि किसी भी अंग का तिरस्कार नहीं करता न परिहार करता है।[3]

उपर्युक्त योग मार्गों के अतिरिक्त श्रीअरविंद अपने पूर्ण योग में तंत्रोक्त साधन पद्धति को भी समाविष्ट करते हैं। ज्ञान भक्ति कर्म आदि युग मार्गों को वे वैदिक

---

1. श्रीअरविंद दर्शन; पृ. 234
2. वही; पृ. 235
3. वही; पृ. 236

कहते हैं और इन वैदिक पद्धतियों से पूर्णतया भिन्न तन्त्र योग है। वैदिक एवं तांत्रिक पद्धतियों में मुख्य भेद यह है कि जहां वैदिक पद्धति या पुरुष को प्रमुख तथा एकक स्थान देती हैं वहीं तंत्र मत प्रकृति को आद्याशक्ति के रूप में प्रमुख समझता है। फिर वैदिक योग शास्त्रों में शक्ति को माया या अविद्या के रूप में स्वीकार किया जाता है और पुरुष को उस अविद्या से मुक्त करना मुख्य रहता है। श्रीअरविन्द का दर्शन वस्तुतः वैदिक तथा तन्त्र मतों का एक समन्वय है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि उनके दर्शन में चेतन पुरुष या सच्चिदानन्द ही सर्वश्रेष्ठ तथा प्रमुख तत्व है फिर भी पुरुष की चेतना स्वयं शक्तिरूपिणी है। सच्चिदानन्द वास्तव में शिव-शक्ति का एकीभूत स्वरूप है।[1]

अन्ततः, श्रीअरविन्द एक ऐसे योग की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं जो सर्वसाधारण के लिए सुगम हो। श्रीअरविन्द ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग तीनों का समन्वय करते हैं। यह संश्लेषण न तो इन सबके सम्मिलन से संभव है और न ही क्रमिक अभ्यास से।[2] किन्तु यह तो तभी संभव है जब यौगिक साधनाओं के विभिन्न प्रकारों और उनके बाह्यपन की उपेक्षा कर उनके सामान्य एवं केन्द्रीभूत शक्तियों को जो विभिन्न विधाओं का सामान्य रहस्य हो, ग्रहण करने में सम्भव हो सकता है। श्रीअरविन्द यह स्वीकार करते हैं कि भारत में आज भी ऐसी यौगिक साधना है जो कि संश्लेषणात्मक है। यह प्रकृति के केन्द्रीभूत सिद्धान्त से प्रारम्भ होता है किन्तु यह स्वतन्त्र योग है न कि अन्य योगों का संश्लेषण है। इस योग की विद्या को तन्त्र कहते हैं।[3]

तन्त्र का वाम मार्ग अतान्त्रिकों के लिए अग्राह्य है तथापि साधना के रूप में यह एक सशक्त विधा रही है। प्राचीन काल में तन्त्र का दक्षिण एवं वाम मार्ग का विभाजन एक तरह से प्रतीकात्मक था जिसका आशय ज्ञान और आनन्द था। मानव में अन्तर्निहित शक्ति सम्यक् विवेक से, ज्ञान से, अपनी शक्तियों और क्षमताओं से स्वयं को मुक्त करती है, वही आनन्दबोध के माध्यम से वह स्वयं को शक्तियों, तत्वों और क्षमताओं से परिपूर्ण करती है।[4]

योग की तन्त्र विद्या योग की वैदिक विधाओं से भिन्न है। वैदिक योग विधाएं वेदान्ती हैं। सबकी शक्ति ज्ञान में है किंतु यह आवश्यक नहीं कि ज्ञान में बुद्धि की ही भूमिका हो, यह भूमिका हृदय की भी हो सकती है जो भक्ति और श्रद्धा का रूप

---

1. श्रीअरविंद दर्शन; पृ. 237
2. The Synthesis of Yoga, Sri Aurobindo; pg. 37
3. The Synthesis of Yoga, Sri Aurobindo; pg. 37
4. वही, पृ. 38

होती है। यह भूमिका संकल्पेक्षा के संकल्प ज्ञान की हो सकती है जो कर्म के रूप में प्रवाहित होती है। तथापि इन सब में योगेश्वर पुरुष है वह चिद् आत्मा है जो जानता है पर्यवेक्षण करता है उत्कृष्ट करता है एवं नियंत्रित करता है। तन्त्र में यह प्रकृति है। प्रकृति आत्मा है शक्ति है और यह संकल्पात्मिका शक्ति ही जगत् की नियामिका है।[1]

तान्त्रिक योग में सत्य का एक पक्ष शक्ति की उपासना के रूप में लिया जाता है। इस योग में परम उपलब्धि का साधन है शक्ति पूजा जबकि वेदान्तिक योग में शक्ति को छलनास्वरूप माया कहा गया है। इस माया या अविद्या से ईश्वर ही मुक्त करा सकता है किंतु समग्र योग में चिदात्मा ईश्वर है और प्रकृति आत्मा ही उसकी की क्रियात्मिका शक्ति है। पुरुष ईश्वर का स्वरूप सत् चित् एवं आनन्द है। प्रकृति भी चिद्रूप है। यह पुरुष की आत्मबोधिका शक्ति है। दोनों का संबंध स्थिर एवं सक्रिय ध्रुवों में है। जब चिदात्म का आनंद शक्ति-मय हो जाता है तो वह स्थिर हो जाता है। किंतु जब पुरुष ईश्वर अपनी ही शक्ति को उद्वेलित करता है तो वह सक्रिय हो उठता है। वही सृष्टि है और सृष्टि की लीला भी है।[2]

श्रीअरविन्द ने योग को व्यावहारिक मनोविज्ञान माना है। यह शिव का शक्ति के माध्यम से स्वयं का ही सामरस्य है।[3]

शक्ति अथवा प्रकृति की गति दो प्रकार की है- उच्च तथा निम्न या दिव्य और अदिव्य। वास्तविकता तो यह है कि यह भेद सिर्फ व्यवहारिक दृष्टि से ही हैं क्योंकि कुछ भी ऐसा नहीं है जो दिव्य न हो। सच्चिदानन्द ने लीलार्थ स्वयं को जड़ रूप में निगूढ़ कर रखा है। निम्न प्रकृति जो हम स्वयं हैं वह तब तक वही रहती है जब तक कि हमारा विश्वास न बदल जाए और हम उन सीमाओं और भेदों में रहें जो अज्ञानस्वरूप है और जिसकी चरम निष्पत्ति अहंकार में होती है। वहीं उच्च प्रकृति जिसकी हमें आकांक्षा है जो एकीकरण के माध्यम एवं सीमाओं का अतिक्रमण कर सक्रिय होती है वह ज्ञानस्वरूप है एवं जिसकी चरम निष्पत्ति दिव्य जीवन में होती है। निम्न से उच्च का मार्ग ही योग है एवं सामान्य दृष्टि से यह मार्ग निम्न की अस्वीकृति एवं पलायन के माध्यम से उच्च तक पहुंचना चाहता है अथवा निम्न को उच्च में रूपांतरित या परिष्कृत करना चाहता है। यही तो समग्र योग का लक्ष्य है।[4]

---

1. The Synthesis of Yoga, Sri Aurobindo; pg. 38
2. वही, पृ. 39
3. वही, पृ. 39
4. वही, पृ. 39-40

श्रीअरविन्द कहते हैं कि यदि हमारा उद्देश्य संसार से ईश्वर तक हमारे गमन मात्र को माना जाए तो इस प्रकार का योग संश्लेषण अनावश्यक तथा मात्र समय का अपव्यय होगा। ऐसे तो हजारों सुगम मार्ग मिल सकते हैं जिससे ईश्वर प्राप्ति हो सके। तब व्यक्ति को सुगम मार्ग अपनाकर गंतव्य प्राप्त करना चाहिए। सच तो यह है कि अनेक मार्गों में भटकते हुए एक उस गंतव्य की तलाश का कोई अर्थ नहीं किंतु हमारे अस्तित्व का ईश्वरीय अस्तित्व में रूपांतरण हो तभी संश्लेषण सार्थक कहा जा सकता है।[1]

श्रीअरविन्द के अनुसार समग्र योग की अवधारणा एक ऐसे आध्यात्मिक जीवन से संबद्ध है जो विभु है। जिसका विस्तार किसी आध्यात्मिक लोक की प्राप्ति या किसी संसार मुक्ति से न होकर एक ऐसे विकास से है जिसमें हमें व्यवहार तथा सर्वव्यापी होने का बोध होता है।[2]

मानव दिव्य अनुभूति और ग्रहण के माध्यम से व्यक्ति के प्रयास से परिवर्तन की ओर अग्रसर होता है किंतु यह मात्र देवी कृपा नहीं अपितु यह सर्व व्याप्त दैवी उपस्थितिजन्य क्रिया है जिससे हम स्वयं अनुप्राणित हो रहे हैं और इसे ही अपने आध्यात्मिक स्वरूप में धारण करते हैं। अतः श्रीअरविन्द ने समग्र योग के द्वारा सर्व मुक्त की अवधारणा प्रस्तुत की है जिसकी चेतना की बात श्रीअरविन्द करते हैं, जो अब तक अति मानस के स्तर तक पहुंच सकी है और जिसे सच्चिदानन्द के स्तर को पाना है। श्रीअरविन्द का यह समग्र योग प्रेम, मैत्री, करुणा को लिए जहां बुद्ध के बोधिसत्व की सर्वमुक्ति की अवधारणा तो दूसरी ओर वेदान्त की वैयक्तिक मुक्ति का समावेश करता है तथा यह एक और पूर्व के अध्यात्म को तो दूसरी और पाश्चात्य की बौद्धिकता का सुन्दर समन्वय भी प्रस्तुत करता है।

✦✦✦

1. The Synthesis of Yoga, Sri Aurobindo; pg. 595
2. वही, पृ. 596

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 18 (39-48) January-June 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

वाक्यार्थ-बोध में उद्देश्य-विधेय की महत्ता

-रामचन्द्र मेघवाल

असिस्टेंट प्रोफेसर, वेदविभाग

गुरुकुल कांगडी, समविश्वविद्यालय, हरिद्वार

भारतीय दर्शन परम्परा में एक अन्यतम विशालतम न्यायतन्त्र जो एक सहस्र अधिकरणों (न्यायालयों) से युक्त वाक्यार्थ-विवेचन (वाक्यार्थ-विश्लेषण) के लिए समर्पित मीमांसाशास्त्र (वाक्यशास्त्र) वेदादि समस्त शास्त्रों के वाक्यार्थ-बोध हेतु एवं सभी भाषाओं के अन्तर्गत सम्पूर्ण वाक्यों के वाक्यार्थ का सम्यक् ज्ञानार्थ एक दीपक के समान विद्यमान है।

वह मीमांसाशास्त्र (वाक्यशास्त्र) अपने दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर कार्य करता है। वे हैं- एक **उद्देश्य-विधेय** व दूसरा **बलाबल।**

ऐसा कहा जा सकता है कि वाक्यरूपी शकट को वाक्यार्थरूपी गन्तव्य-स्थान तक की यात्रा उद्देश्य-विधेयरूपी व बलाबलरूपी दोनों चक्रों के द्वारा ही सम्भव है। अर्थात् इन दोनों चक्रों से संयुक्त होकर वाक्यरूपी शकट अपने वास्तविक गन्तव्य-स्थान वाक्यार्थबोध को प्राप्त हो सकता है। उन्हीं दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त उद्देश्य-विधेय का सामान्य विश्लेषण के साथ प्रस्तुत करने का एक छोटा-सा प्रयास है।

प्रश्न- उद्देश्य किसे कहते हैं?

उद्देश्यत्वं, अनुवाद्यत्वं, प्राधान्यं चेति अपरं त्रिकम्[1]

उद्देश-अनुवाद-प्रधान

उद्देश्य-अनुवाद्य-प्राधान्य

उद्देश-उद्देश्य या अनुवाद-अनुवाद्य

ये प्रधान होते हैं उद्देश्य या अनुवाद्य उसी को बनाया जाता है जो सिद्ध हो और जिसका विधान (विधि) किया जाता है वह विधेय।

---

1. मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृतव्याख्या विनियोगविधि प्रकरण अर्थसंग्रह, पृ.सं. 61, व्याख्याकार डॉ. कामेश्वर नाथ मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

यथा- राम बुद्धिमान् है। राम- उद्देश्य व बुद्धिमान् विधेय अथवा किसी साध्य की सिद्धि के लिए किसी का विधान किया जाये तो वह साध्य भी उद्देश्य हो जाता है परन्तु साध्य का विधान मानान्तर से ज्ञात होना चाहिए।

यथा- **दध्ना जुहोति**[1] यहाँ पर **'जुहोति'** पद उद्देश्य है और **'दधि'** विधेय। उद्देश्य की परिभाषा- **उद्देश्यत्वं नाम मानान्तरज्ञातस्य उद्देश्यमानत्वम्। अथवा अनुवाद्यत्वं नाम मानान्तरज्ञातस्य अनुकथ्यमानत्वम्।**[2]

अन्य प्रमाणों के द्वारा जो पदार्थ जान लिया गया हो उस ज्ञात पदार्थ को उद्दिष्ट करना/संकेतित करना/इंगित करना/अनुकथन करना ही उद्देश्य या अनुवाद्य माना जाता है। अथवा अन्य प्रमाणों से ज्ञात पदार्थ का अनुकथन करना या पुनः कथन करना या अनुवाद करके किसी का विधान किया जाये उसे ही अनुवाद्य माना जाता है। जो अभी उद्देश्य/अनुवाद्य है वह भी कभी विधेय था और जो अभी विधेय है वह भी कभी उद्देश्य हो सकता है।

यथा- **'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत'**[3] प्रकृत उदाहरण में-

फलमुद्दिश्य याग उपादीयते।

फलमनूद्य यागो विधीयते

फलं प्रधानं याग उपसर्जनम् (गौणम्)[4]

फलस्य प्राधान्यं नाम साध्यत्वेन बोध्यम्।

यागस्य उपसर्जनत्वं नाम साधनत्वेन बोध्यम्।[5]

यहाँ पर फल का अनुवाद करके याग का विधान किया है फल उद्देश्य व याग विधेय है परन्तु वही विधेय याग उद्देश्य बन जाता है जब हम वाजपेय का विधान करते है॥ एवमेव-

यागमुद्दिश्य वाजपेय उपादीयते।

यागमनूद्य वाजपेयो विधीयते

यागः प्रधानं वाजपेय उपसर्जनम् (गौणम्)[6]

---

1. विनियोगविधि प्रकरण अर्थसंग्रह, पृ.सं. 61
2. मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृतव्याख्या विनियोगविधि प्रकरण अर्थसंग्रह, पृ.सं. 61
3. मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृतव्याख्या विनियोगविधि प्रकरण अर्थसंग्रह, पृ.सं. 62
4. मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृतव्याख्या विनियोगविधि प्रकरण अर्थसंग्रह, पृ.सं. 62
5. मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृतव्याख्या विनियोगविधि प्रकरण अर्थसंग्रह, पृ.सं. 62
6. मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृतव्याख्या विनियोगविधि प्रकरण अर्थसंग्रह, पृ.सं. 62

यागोऽङ्गी वाजपेयोऽङ्गम्

यागस्य प्राधान्यं नाम साध्यत्वेन बोध्यम्

वाजपेयस्य उपसर्जनत्वं नाम साधनत्वेन बोध्यम्

फलस्योद्देश्यत्वं मानसापेक्षो विषयत्वाकारः

यागस्योपादेयत्वं तु अनुष्ठीयमानत्वाकारः।[1]

प्रश्न- विधेय किसे कहते हैं?

उपादेयत्वं, विधेयत्वं, गुणत्वं चेत्येकं त्रिकम्[2]

विधेय- उपादेय उपसर्जन (गौण)

विधेयत्वं चाज्ञातस्यानुष्ठेयत्वेन प्रतिपाद्यमानत्वम्[3]

अज्ञात पदार्थ को अनुष्ठेय के रूप में प्रतिपाद्यमान पदार्थ को ही विधेय कहा जाता है। जो विधेय होता है वही उपादेय भी होता है और विधेय/उपादेय उपसर्जन/गौण/अप्रधान होता है। क्योंकि उपोदय/विधेय किसी उद्देश्य के लिए होता है अथवा किसी अङ्गी के लिए होने के कारण अङ्गमात्र होता है और अङ्ग हमेशा अप्रधान/गौण/उपसर्जन होता है और अङ्गी प्रधान/मुख्य/अनुपसर्जन होता है। या यूँ कहें कि विधेय शेष होता है तथा उद्देश्य शेषी। जो शेष होगा वह अप्रधान जो शेषी होगा वह प्रधान।

आंग्ल भाषा में भी उद्देश्य-विधेय को इस प्रकार परिभाषित किया गया है। प्रत्येक पूर्ण वाक्य में दो भाग होते हैं एक उद्देश्य और एक विधेय। उद्देश्य वह है जो वाक्य के बारे में है, जबकि विधेय उद्देश्य के बारे में कुछ बताता है।

Every complete sentence contains two parts: a subject and a predicate. The subject is what (or whom) the sentence is about. While the predicate tell something about the subject.

OR

एक उद्देश्य एक वाक्य की संज्ञा या सर्वनाम आधारित भाग है और एक विधेय क्रिया आधारित भाग है जो क्रिया के द्वारा उद्देश्य किया जाता है।

A subject is the noun or pronoun-based part of a sentence, and a predicate is the verb-based part that the subject performs.

---

1. मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृतव्याख्या विनियोगविधि प्रकरण अर्थसंग्रह, पृ.सं. 62
2. मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृतव्याख्या विनियोगविधि प्रकरण अर्थसंग्रह, पृ.सं. 61
3. मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृतव्याख्या विनियोगविधि प्रकरण अर्थसंग्रह, पृ.सं. 62

OR

Ques. What is a subject?

A subject is the person or things that is doing on action, or the person or thing that is the focus of the sentence.

Ques. What is a predicate?

The predicate of the sentence is the part that contains the action.

OR

Subject and Predicates

The simple subject is the main word or group of words in the complete subject.

The simple predicate is the main word or group of words in the complete predicate. It is always the verb (action word)

Predicate

Ex. My sister read a book

Subject

Compound Subjects

Compound subjects are made up of two or more simple subjects that are joined by a conjunction and have the same verb.

Example: Tomatoes and carrots are colourful vegetables. Both the tomato and the pepper are rich in vitamin C.

Compound Predicates

Compound predicates (or compound verbs) are made up of two or more verbs or verb phrases that are joined by a conjunction and have the same subject.

Examples: Marid opened her book, grabbed a pencil, and started her homework.

We have tested these products and have found them good.

Complete sentences

Each needs a subject and a predicate. Imperative sentences do not need subjects. Subjects are on the left, predicates are right.

Examples:

1.	p She runs, s
	p Stop
3.	I am, Bob went to school, but kyle stayed home.
4.	p We went to the park s
5.	p I sang a song s p
6.	Ram and I played basketball at the park s
7.	p Reading and learning san be fun activities. s s

इस प्रकार आंग्ल भाषा में क्रिया शब्दों को विधेय माना जाता है।

परन्तु वाक्यशास्त्र (मीमांसा शास्त्र) में आख्यातों (क्रिया शब्दों) के साथ-साथ नामपद भी विधेय माना जाता है।

यथा- **दध्ना जुहोति** यहाँ पर दध्ना (दधि) नामपद भी विधेय है। और आंग्ल भाषा में नामपद को उद्देश्य माना जाता है। परन्तु वाक्यशास्त्र (मीमांसाशास्त्र) में नाम पद के साथ आख्यातपद भी उद्देश्य होता है।

यथा- **'पयसा जुहोति'** यहाँ पर **'जुहोति'** आख्यातपद (क्रियापद) भी उद्देश्य है।

अब प्रश्न यह है कि 'दधि' नामपद होते हुए भी विधेय कैसे है? इसका उत्तर इस प्रकार है-

'दध्ना जुहोति' इस उदाहरण में होम (जुहोति) को उद्दिष्ट करके गुणरूप 'दधि' का विधान किया जा रहा है, होमरूपी अङ्गी के लिए दधिरूपी (गुण) अङ्ग

की विधि की गयी है। अङ्ग हमेशा अङ्गी के लिए होता है अथवा अङ्गी का उपकारक होता है। अतः अङ्ग अप्रधान (गौण) और अङ्गी प्रधान होगा क्योंकि होम को सम्पन्न करने के लिए दधि का उपयोग किया जाता है न कि दधि को सम्पन्न करने के लिए होम का। इसलिए होम को सम्पन्न करने के लिए दधि का विधान किया गया है अतः दधि एक विधेय हुआ और दधि का विधान भी होम को उद्दिष्ट करके अथवा होम को सम्पन्न करने के लिए हुआ अतः होम उद्देश्य हुआ।

यथा–

होममुद्दिश्य दध्युपादीयते,

होममनूद्य दधि विधीयते,

होमः प्रधानं दध्युपसर्जनम्।[1]

दूसरा प्रश्न यह है कि 'जुहोति' क्रियापद होते हुए भी उद्देश्य कैसे है?

उद्देश्य या अनुवाद्य वही हो सकता है जिसकी पूर्व में विधि हो चुकी हो यानि जो मानान्तर से ज्ञात है **(अनुवाद्यत्वं नाम मानान्तरज्ञातस्यानुकथ्यमानत्वम्)**[2] – और होम (जुहोति) की विधि हो चुकी है।

अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः[3]

अतः **'दध्ना जुहोति'** में जुहोति एक अनुवाद है एक उद्देश्य है और दध्ना एक उपादेय/विधेय है।

यत् स्वार्थं तत् प्रधानम्

यत् परार्थं तदप्रधानम्

यत् सिद्धं तत् उद्देश्यम्

यत् साध्यं तत् विधेयम्

यत् उपकार्यं तत् उद्देश्यम्

यत् उपकारकं तत् विधेयम्

मानान्तरेण ज्ञातं उद्देश्यम्

मानान्तरेण अज्ञातं विधेयम्।

---

1. मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृतव्याख्या विनियोगविधि प्रकरण अर्थसंग्रह, पृ.सं. 61
2. मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृतव्याख्या विनियोगविधि प्रकरण अर्थसंग्रह, पृ.सं. 62
3 मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृतव्याख्या उत्पत्तिविधि प्रकरण अर्थसंग्रह, पृ.सं. 57

उद्देश्य-विधेय के लौकिक उदाहरण यथा-

1. राम घर जाओ

   उ० उ०

इस वाक्य में राम व घर दोनों पद उद्देश्य है और जाओ पद विधेय है। क्योंकि राम व घर दोनों सिद्ध पदार्थ है अतः विद्यमान (प्राप्त) राम के लिए ज्ञात घर को संकेतित करते हुए गमन क्रिया (जाओ) का विधान किया गया है।

2. राम अच्छा खेलता है।

   उ०

इस उदाहरण वाक्य में 'राम' पद उद्देश्य है और 'अच्छा खेलता है' ये दोनों पद विधेय है।

खेलना क्रिया विधेय है परन्तु 'अच्छा' पद क्रिया का विशेषण होने से यह भी विधेय है। इसको **गुणविशिष्टविधि** कहते हैं।

3. बुद्धिमान् राम पुस्तक पढ़ता है

इस वाक्य में बुद्धिमान्, राम व पुस्तक तीनों पद उद्देश्य है। बुद्धिमान् राम का विशेषण होने के कारण उद्देश्य है और पुस्तक को उद्दिष्ट करके ही पठन क्रिया का विधान संभव है। अतः पुस्तक भी उद्देश्य है। और 'पढ़ता है' यह पद विधेय है।

4. राम और श्याम पढ़ते हैं।

इस वाक्य में 'राम और श्याम' दोनों पद उद्देश्य हैं और 'पढ़ते हैं' पद एक विधेय है।

5. राम पढ़ता और लिखता है। इस वाक्य में 'राम' एक उद्देश्य है पर पठन-क्रिया व लेखन-क्रिया दोनों पद विधेय हैं।

6. राम, श्याम और कृष्ण अच्छा खेलकर के घर आये हैं। इस वाक्य में 'राम, श्याम और कृष्ण' ये तीनों पद उद्देश्य है। और 'आये हैं' ये विधेय है। तथा 'घर' पद भी उद्देश्य ही है। परन्तु 'अच्छा खेलकर के' इस पद को क्या माना जाय- उद्देश्य या विधेय तो इसको भी उद्देश्य ही माना जाय क्योंकि (अच्छा खेलकर के, इसको उद्दिष्ट करके आने की विधि की गई है।)

7. मैं खेलने के लिए जाता हूँ। इस वाक्य 'मैं' पद उद्देश्य और जाना क्रिया विधेय है परन्तु 'खेलने के लिए' यह पद क्या होगा तो उत्तर यह है कि यह पद भी उद्देश्य ही होगा।

8. खेल में विजय पाने के लिए राम उपयुक्त पात्र है। इस प्रकार उद्देश्य-विधेय

का सम्यक् बोध होने पर हम लौकिक भाषागत वाक्यों का सरलता से वाक्यार्थ समझ सकते हैं और वैदिक वाक्यों एवं वेदानुकूल समस्त शास्त्रीय वाक्यों को हम बहुत ही सरलता से समझ सकते हैं। उन स्थलों को भी जहाँ पर शास्त्रीय वाक्य (वेद वाक्य) अस्पष्ट दिख रहा हो अथवा बहुत ही विवादित हो, जहाँ दो या दो से अधिक मत हो और एक वाक्यार्थ मानने पर कोई सहमत ना हो तो ऐसी स्थिति में विवादित वाक्यों का भी वाक्यार्थ उद्देश्य-विधेय के द्वारा ठीक-ठीक समझकर विवाद समाप्त किया जा सकता है।

यथा- वैशेषिक दर्शन में सातवें अध्याय के प्रथम आह्निक में कहा गया है- 'विभु होने से आकाश महत्व परिमाण वाला है।'

विभवान्महानाकाशः[1]

उसी प्रकार विभु होने से आत्मा भी महत्परिमाण वाला है। **तथा च आत्मा**[2]

महर्षि कणाद ने तो सूत्र-रचना अपने ज्ञानानुसार की थी पर उनके बाद आने वाले विद्वान् आचार्यों के लिए एक संकट उत्पन्न हो गया। और वो संकट है 'तथा च आत्मा' क्योंकि 'आत्मा' शब्द परमात्मा व जीवात्मा दोनों का वाचक है। परन्तु 'तथा च आत्मा' यहाँ पर 'आत्म' से क्या अर्थ लिया जाय। विद्वानों का एक समुदाय ऐसा है जो आत्मा से जीवात्मा अर्थ ग्रहण करता है और सूत्रार्थ माना जाता है-

उसी प्रकार (आकाश के समान विभु होने से) जीवात्मा भी महत्परिमाण वाला है। परन्तु विद्वानों का दूसरा समुदाय जो 'आत्मा' शब्द से परमात्मा अर्थ ग्रहण करता है। उनके मत में सूत्रार्थ होगा- **तथा विभवात् महत् आत्मा।**

उसी प्रकार (आकाश के समान विभु होने से) परमात्मा भी महत्त्परिमाण वाला है। आज भी विद्वत् समुदाय में ये दोनों अर्थ लिया जाता है अपने-अपने मत को दोनों सही मानते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या दोनों मत सही है या दोनों में से कोई एक सही है। और यदि कोई एक ही सही है तो फिर वो कौन-सा मत है।

अब इस समस्या के समाधान की गवेषणा करने के लिए हम वाक्य शास्त्र (मीमांसा शास्त्र) की शरण में जाते हैं क्योंकि 'वाक्यार्थ-विश्लेषण' करना वाक्यशास्त्र (मीमांसा) का मुख्य विषय है।

---

1. वैशेषिक दर्शन (7/1/22) क, वैशेषिक दर्शन, पृ.सं. 249 आचार्य उदयवीर शास्त्री, विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द, नई दिल्ली।
2. वैशेषिक दर्शन (7/1/22) ख, वैशेषिक दर्शन, पृ.सं. 249

और वाक्यशास्त्र (मीमांसाशास्त्र) अपने दोनों सिद्धान्तों उद्देश्य-विधेय व बलाबल के माध्यम से कार्य करता है।

सभी प्रकार के विवादित स्थलों का समाधान करने के लिए सर्वप्रथम उद्देश्य-विधेय अपना कार्य एकार्थक वाक्यों में प्रारम्भ करता है और यदि उद्देश्य-विधेय समस्या का समाधान करने में असमर्थ रहता है तो दूसरा सिद्धान्त 'बलाबल' शेष अर्थात् अनेकार्थ वाक्यों की समस्या का समाधान करता है।

अब- **'तथा च आत्मा'** का अर्थ होगा- **तथा विभवात् महत् आत्मा।**

प्रकृत वाक्य में **'विभवात्'** उद्देश्य है और **'महत्'** विधेय। (मानान्तर से ज्ञात पदार्थ ही उद्देश्य होता है।) **अनुवाद्यत्वं नाम मानान्तरज्ञातस्यानुकथ्यमानत्वम्।**[1]

अब आत्मा (जीवात्मा) के विभुगुण का विधान पूर्व में कहीं शास्त्रों में किया गया है या नहीं?

यदि पूर्व में विधान किया गया है तो विभु उद्देश्य बनेगा नहीं तो नहीं बनेगा। कणाद मुनि प्रणीत इस वैशेषिक दर्शन के प्रकृत सूत्र से पूर्व सभी शास्त्रों में आत्मा के विभु गुण की विधि कहीं भी नहीं की गई परन्तु इसके विपरीत अनन्त जीवात्मा अणुपरिमाण है, ऐसा शास्त्रों में मिलना इस बात का प्रमाण है कि जीवात्मा अणु है विभु नहीं।

यथा-

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः[2]

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
जीवो भागः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।[3]

'स च एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं,
तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो'[4]

इत्यादि अनेक वैदिक प्रमाण जीवात्मा के अणुपरिणाम को प्रकट करते हैं। अतः 'जीवात्मा' के पक्ष में **'विभवात्'** पद उद्देश्य नहीं बन सकता तो **'महत्'** पद भी विधेय नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में महत्परिमाण की विधि व्यर्थ होने लगेगी।

---

1. मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृतव्याख्या विनियोगविधि प्रकरण अर्थसंग्रह, पृ.सं. 62
2. (मु. 3/1/9), पृ.सं. 182, एकादशोपनिषद्, लेखक डॉ. सत्यव्रेत सिद्धान्तालंकार, प्रकाशक- विजय कृष्ण लखन पाल, W-77, ए, ग्रेटर कैलाश, नई दिल्ली- 48
3. (श्वेता. 5/9) , पृ.सं. 1023, एकादशोपनिषद्, लेखक डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, प्रकाशक- विजय कृष्ण लखन पाल, W-77, ए, ग्रेटर कैलाश, नई दिल्ली- 48
4. (छा. 6/8/7) , पृ.सं. 554, एकादशोपनिषद्

ऋषि द्वारा किया गया विधान व्यर्थ नहीं हो सकता अतः प्रकृत स्थल में 'आत्मा' पद परमात्मा का वाचक होगा और परमात्मा के विभु होने के अनेक प्रमाण हैं। जैसे ऋग्वेद के प्रथम[1] मण्डल व द्वितीय[2] मण्डल में परमात्मा को विभु कहा गया है। और यजुर्वेद के बत्तीसवें अध्याय में भी परमात्मा को विभु माना है।[3] अतः परमात्मा विभु गुण सम्पन्न होने के कारण 'विभवात्' पद उद्देश्य बन जायेगा तथा 'महत्' पद विधेय हो जायेगा तब "परमात्मा विभु होने के कारण महत्परिमाण वाला होगा" यह विधि मानी जायेगी। अतः उद्देश्य-विधेय के कारण द्वितीय विद्वत् समुदाय द्वारा माना गया सिद्धान्त सही हुआ।

तथा च आत्मा

तथा विभवात् आत्मा (परमात्मा) महत् परिमाणयुक्तो अस्ति। विभु होने से परमात्मा ही महत् परिमाण वाला होगा जीवात्मा नहीं। क्योंकि विभु परमात्मा है न कि जीवात्मा। वह जीवात्मा तो अणु परिणाम वाला है। अतः निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि समस्त वेदादि शास्त्रों के वाक्यों का वाक्यार्थ एवं लौकिक भाषागत सभी वाक्यों का वाक्यार्थ ठीक-ठीक समझने के लिए यानि यथार्थ बोध हेतु उद्देश्य विधेय एक महत्त्वपूर्ण साधन (उपाय) के रूप में मीमांसा का सिद्धान्त है। जो किसी भी विषय का अध्ययन करने में सभी अध्येताओं को यथार्थ बोध के लिए सरलता व सुगमता प्रदान करता है।

इसलिये समस्त अध्येताओं के लिए उद्देश्य-विधेय का पठन-पाठन उपयोगी एवं आवश्यक है।

---

1. **अस॒दित्ते॑ वि॒भुप्र॒भु।** ऋग्वेद 1-9-5, पृ.सं. 51, ऋग्वेदभाष्यम्, पं. हरिशरण सिद्धान्तालंकार, प्रकाशक- हितकारी प्रकाशन समिति, ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, राजस्थान
2. **वि॒भु प्र॒भु प्र॑थ॒मं मे॒हना॑वतो .....। योऽव॑रे वृजने॑ वि॒श्वथा॑ वि॒भुर्म॒हामु॑ ....।** ऋग्वेद 2-24-10, 11, पृ.सं. 498 ऋग्वेदभाष्यम्, पं. हरिशरण सिद्धान्तालंकार, प्रकाशक- हितकारी प्रकाशन समिति, ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, राजस्थान
3. **सऽओ॒तः प्रोत॑श्च वि॒भूः प्र॒जासु॑।** यजुर्वेद 32-8, अध्याय 32 मन्त्र 8, यजुर्वेद भाष्य, स्वामी दयानन्द सरस्वती, प्रकाशक - श्रद्धानन्द अनुसंधान केन्द्र, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 18 (49-53) January-June 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

'गणरत्नमहोदधि' में वैदिक एवं साहित्यिक-प्रयोग

(अव्यय-गण के सन्दर्भ में)

-डॉ० रामचन्द्र

असिस्टेंट प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
इंस्टीट्यूट ऑफ इंटीग्रेटिड एण्ड ऑनर्स स्टडीज (IIHS)
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

-सीमा रानी

संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

संस्कृत-व्याकरणशास्त्र की परम्परा अति प्राचीन है। जब संस्कृत-भाषा के प्रसंग में व्याकरण का नाम उल्लेख होता है, तो तत्काल हमारे समक्ष पाणिनि-प्रोक्त ही व्याकरण अष्टाध्यायी उपस्थित होता है। पाणिनि की सूत्र-शैली में संस्कृत के वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के शब्दों के स्वरूप तथा प्रकृति को अष्टाध्यायी की रचना करके नियत कर दिया। एक ओर तत्संबद्ध प्रत्याहारों, अनुवृत्तियों तथा अनुबन्धों को जन्म दिया, दूसरी ओर सूत्रों की परिपूर्णता के लिए गणपाठ और धातुपाठ को सूत्रों से पृथक् परिशिष्ट रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता का उद्‌बोधन कराया, क्योंकि असंख्य शब्दों के साधुत्व को स्पष्ट करने एवं सूत्रों के संक्षेपीकरण के लिए कुछ विशिष्ट गणों का निर्धारण करना सूत्रकारों (वैयाकरणों) के लिए अनिवार्य हो गया।

आचार्य पाणिनि से पूर्व भी गणपाठ की परम्परा प्रचलित थी। अनेक प्राचीन वैयाकरणों ने अपने व्याकरण-शास्त्र में इस गणपाठ की परम्परा का अनुसरण किया। जैसे- ऐन्द्र व्याकरण गणपाठ, काशकृत्स्न व्याकरण गणपाठ व आपिशलि तथा उसका गणपाठ आदि।

महर्षि पाणिनि से उत्तरवर्ती भी वैयाकरणों का गणपाठ मिलता है। जैसे- चन्द्रगोमी, जैनेन्द्र, जैनशाकटायन (पाल्यकीर्ति), श्रीभोज, भद्रेश्वर, अरुणदत्त, वर्धमानसूरि तथा उसकी गणरत्नमहोदधि, सारस्वत-व्याकरण में प्राप्त गण और मुग्धबोध-व्याकरण

में प्राप्त गण इत्यादि। उपरि पठित इन वैयाकरणों में गणपाठ के शब्दों की व्याख्या करने वाला सर्वोत्तम ग्रंथ जैनमतावलम्बी आचार्य वर्धमानसूरि-कृत 'गणरत्नमहोदधि' है।

गणरत्नमहोदधि : परिचय

जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय से श्रीगोविन्दसूरि के शिष्य श्रीवर्धमानसूरि ने संस्कृत-व्याकरण में गणपाठ की परम्परा को आधार मानकर 'गणरत्नमहोदधि' की रचना की। इन्होंने अपने इस ग्रन्थ में पद्यों के माध्यम से गणपाठों (प्रातिपदिकों) को कुल आठ अध्यायों की 460 कारिकाओं में 219 गणों का संग्रह समावेशित किया है। ग्रन्थ के अन्तर्गत पठित गणों के शब्दों को समझाने के लिए व व्याख्या करने के लिए ग्रन्थकार ने स्वयं इस पर एक आत्म-चेतना का निर्माण किया है। इस वृत्ति को गणरत्नमहोदधिवृत्ति कहा जाता है। इस वृत्ति के अन्तर्गत पठित गणपाठों के शब्दों को विषय या शीर्ष के अनुसार आठ अध्यायों में समावेश किया गया है। जैसे- प्रथम अध्याय **'नामाध्याय'** है। इसमें शीर्षक के अनुसार विविध संज्ञाएं व नाम (=प्रातिपदिक) शब्दों का संकलन है, साथ-ही-साथ च, वा, ह, अह इत्यादि अव्ययों का भी समावेश है। दूसरे अध्याय में सामासिक शब्दों को गणों में एकत्रित किया गया है। इसलिए इसका शीर्षक **'समासप्रक्रियानिर्णयः'** है। तीसरे से सातवें अध्यायों में भी प्रातिपदिक या नामों की तरह विभिन्न तद्धित प्रत्ययों का कथन किया गया है। अतः उन अध्यायों में दिखाई देने वाले तद्धित प्रत्ययों के नाम पर अध्यायों का नाम दिया गया हैं। जैसे चौथे अध्याय का नाम **'समूहविकारावयवचतुर्थेवेत्यधीतेविहित- तद्धित-प्रत्ययगण निर्णयः'** है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन अध्यायों में सामूहिक, वैकारिक और चातुरर्थिक जैसे विशेषण हैं। जबकि अन्तिम आठवें अध्याय का नाम- **'कृदाश्रितप्रत्ययगणनिर्णयः'** है। इसमें कृदन्त प्रत्ययों से सम्बन्धित शब्दों का गणों में समावेश है। इससे स्पष्ट होता है कि इस प्रकार 'गणरत्नमहोदधि' के प्रत्येक अध्यायों का नाम विषय-वस्तु के नाम पर रखा गया है।

गणपाठ का अभिप्राय व भेद

गण शब्द √गण संख्याने[1] से निष्पन्न हुआ। जिसका अर्थ है- जिसकी गिनती की जाए। क्रम-विशेष से पढ़े गए- शब्द समूहों का जिस ग्रन्थ में संकलन होता है उसे गणपाठ कहते हैं। यद्यपि गणपाठ शब्द का यौगिक अर्थ समूहरूपेण पठन अथवा उपदेश है। इसलिए किसी भी प्रकार के शब्दों के सामूहिक प्रवचन अथवा निर्धारण को, यौगिक अर्थ के अनुसार गणपाठ कहा जा सकता है,[2] तथापि व्याकरण-शास्त्र

1. धातुपाठ, तनादिगण, पृ० 68; गणसंख्याने।
2. द्र०, सं० व्या० में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि, पृ० 11

की पारिभाषिक शब्दावली में जिस ग्रन्थ में प्रातिपदिकों अथवा नाम प्रकृतियों के गणों अथवा समूहों का संकलन होता है, उसे गणपाठ और जिस ग्रन्थ में धातुओं अथवा आख्यात प्रकृतियों के विभिन्न समूहों का पाठ किया जाता है उसे धातु कहते हैं। यद्यपि 'गणपाठ' शब्द का प्रयोग धातुपाठ के लिए भी क्वचित् देखा जाता है। तथापि 'गणपाठ' शब्द का प्रयोग **'गोबलीवर्दन्याय'** से प्रायः प्रातिपदिक पाठ के लिए प्रयुक्त होता है।[1] गणों के दो मुख्य प्रकार –

1. पठित/नियत गण।
2. आकृति/अपठित/अनियत गण।

1. पठितगण – जिस गण के शब्दों की सम्पूर्ण सूची अथवा परिगणन दिया जा सकता है। उस गण को पठित गण कहते है। जैसे- सर्वादि, त्यदादि व यस्कादि इत्यादि।

2. आकृतिगण – प्रयोग, स्वरूप और साधुत्व इनकी समानता को ध्यान में लेकर, समान आकृति के आधार पर गण में दिए गए शब्दों के समान जितने और शब्द हों, वे सब शब्द आकृतिगण में समाविष्ट होते है। हरदत्त का कथन है-

'प्रयोगदर्शनेन आकृतिग्राह्यो गण आकृतिगणः।'[2]

वर्धमानसूरि ने 'गणरत्नहोदधि' में कहा कि आकृतिगण परिच्छिन्न शब्दों का गण न होकर अपरिमित शब्दों का समूह होता है अर्थात् इसमें अनन्त-शब्द-समूह का अन्तर्भाव होता है।[3]

वैदिक-साहित्यिक प्रयोग

आचार्य वर्धमानसूरि ने अपने ग्रंथ में वैदिक-साहित्यिक-ग्रन्थों के उदाहरण देकर गण में पठित, अप्रचलित या अज्ञात शब्दों के अर्थों का विन्यास और प्रयोग बड़ी ही सुन्दरता से किया है। जैसे चादिस्वरादी गण में पठित 'च' अव्यय शब्द के अन्वाचय, समाहार, इतरेतर, समुच्चय, विनियोग, तुल्ययोगिता, अवधारणा और हेतु अर्थ दिए हैं। 'च' अव्यय का 'अवधारणा' अर्थ में साहित्यिक-प्रयोग इस प्रकार है-

---

1. द्र०, तदेव, पृ० 12
2. पदमंजरी, भाग 1, पृ० 380
3. द्र०, आकृति-गणश्चायम्। तेनापरिमित शब्द समूहः।
   य आकृत्याकारेण लक्ष्यते स आकृतिगणः।।
   अयमर्थः- यथा भास्करादिशब्दः साधु स्वार्थप्रत्यायने समर्थस्तद्वद्योऽन्योऽपि सविधाना-च्छिष्टसम्मतः स गणेऽस्मिन् प्रणिविष्टः सन् साधुत्वभाग् द्रष्टव्य इति।19।

'अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्यायं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः॥'[1]

अर्थात् आपकी महिमा (किसी की भी) वाणी व मन की पहुँच से परे है, जिसे वेद भी आश्चर्य से चकित अथवा अचम्भित होकर नेति-नेति कह कर वर्णित करते हैं। ऐसा ब्रह्म किसके द्वारा स्तोतव्य हो सकता है, अर्थात् उस ब्रह्म की महिमा कैसे और किससे गायी जा सकती है? क्या ऐसा (परात्पर) ब्रह्म भी किसी की विषय-वस्तु बन सकता है। तथापि आप को अर्वाचीन रूप अर्थात् अपेक्षा-कृत नये रूप में (जो सृष्टि रचना के पूर्व निर्गुण रूप में रहने वाले ब्रह्म ने सगुण रूप धारण कर व्यक्त किया) किसकी वाणी व किसका मन नहीं रमता?

निपात शब्द 'नु' के प्रश्न-प्रतिवचन-उपमान वितर्क-उत्प्रेक्षा-विषादपादपूरण अर्थ किए गये हैं। 'नु' के 'उपमान' (उपमा) अर्थ में वैदिक प्रयोग है -

'वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः'[2]

अर्थात्- हे पुरुहूत! इन्द्र! तेरे न आने से हमारे यज्ञ के मार्ग वृक्ष की शाखाओं के समान खाली हैं।

चादिस्वरादीगण में ही पठित 'हुं' निपात शब्द के अनिच्छा, भय, स्मरण, भर्त्सन, कोप अर्थ दिए है। 'कोप' अर्थ में 'हुं' निपात का यह प्रयोग 'भट्टिकाव्यम्' से आचार्य ने अपने ग्रन्थ गणरत्नमहोदधिस्वोपज्ञवृति में उद्धृत किया है -

'आः कष्टं बत ही चित्रं हुं मादैवतानि धिक्।
हा पितः! क्वासि हे सुभ्रु! बह्वेवं विललाप सः॥[3]

अर्थात् ओः! कष्ट है, हाय खेद है, आश्चर्य है, माताओं! आप लोग कहाँ है? देवताओं को भी धिक्कार है। हा पिता जी! सीते! तुम कहाँ चली गयी रामचन्द्र जी इस तरह बहुत विलाप करने लगे।

'गणरत्नमहोदधि' के अन्तर्गत अव्ययशब्द 'ओम्' के अभ्यादान, अभ्युपगम और समाप्ति अर्थ दिए हैं। ग्रन्थकार 'ओम्' के 'अभ्युपगम' (स्वीकृति या हां) अर्थ में कवि माघ-कृत 'शिशुपालवध' महाकाव्य से एक सुन्दर पद्य का प्रयोग करते हैं।

---

1. शिवमहिम्न स्तोत्रम्, श्लोक 2, पृ० 1-2
2. ऋग्वेद, 6.24.31
3. भट्टि० 6-11 : पण्डित श्री शेषराज शर्मा शास्त्री।

'ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाचं नभस्-
तस्मिन्नुत्पतिते पुरः सुरमुनाविन्दोः श्रियं बिभ्रति॥'[1]

अर्थात् यह वचन कहकर उस देवर्षि नारद के आकाश में जाने और चन्द्रमा की शोभा ग्रहण करने पर 'ओम्' कहने वाले ('ओम्' कहकर नारदोक्त शिशुपाल के वध करने की स्वीकृति देने वाले) शिशुपाल के ऊपर क्रुद्ध आकाश तुल्य श्रीकृष्ण भगवान् के मुख में सदा शत्रुओं के नाश की सूचना करने वाली भृकुटि (चढ़ने) के कपट से धूमकेतु नाम तारा ने स्थान बना लिया। इसके अतिरिक्त 'ओम्' शब्द के 'मंगल' अर्थ में वैदिक प्रयोग भी किया गया है-

'ओम् अग्निमीळे पुरोहितम्'[2]

ऋग्वेद में आदित्य देव को विश्वकर्मा, धाता और विधाता कहा है - 'विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता प्रमोद संदृक्'[3] गणरत्नमहोदधिकार ने भी आदित्य अर्थ में 'विश्वकर्मा' शब्द का प्रयोग किया है।

निष्कर्ष :

कहा जा सकता है कि जिस ग्रन्थ में पठित गणपाठ के शब्दों के अर्थों का प्रयोग किया गया है। उससे यह ग्रन्थ निःसन्देह मूल्यवान् रचना सिद्ध होता है।

✦✦✦

1. शिशुपालवध, प्रथम सर्ग, श्लोक 75
2. ऋग्वेद, 1.1.1
3. ऋग्वेद, 10.82.2

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 18 (54-63) January-June 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

उपनिषदों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

-प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

-**चन्द्रगुप्तः**, शोधच्छात्र

वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी समविश्वविद्यालय

मनुष्य सांसारिक दु:खों से संतृप्त होकर सृष्टि के आदिकाल से परमशान्ति तथा शाश्वत सुख की खोज करता रहा है। सांसारिक भोगों के सुख क्षणिक तथा नश्वर होते हैं। उनमें शाश्वत-सुखों की आशा करना मरु-मरीचिकाओं में जल समझने के समान ही है। सांसारिक भोगों को भोगते-भोगते मानव समस्त जीवन बिता देता है, किन्तु परम सुख प्राप्त नहीं होता।

महाराज भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है कि -

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः॥[1]

अर्थात् भोग भोगे नहीं जा सकते। हमें ही भोग खा जाते हैं, अर्थात् जीवन समाप्त हो जाता है परन्तु भोग-कामनाओं की तृप्ति नहीं होती।

मनु जी के शब्दों में भोगों को भोगने से -

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥[2]

अर्थात् कभी भी वासनाओं की शान्ति नहीं होती। प्रत्युत कामनाओं की वैसी ही वृद्धि होती है, जैसे घृतादि से अग्नि प्रचण्ड हो जाती है। धन-धान्यादि से सम्पन्न देश इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि उन देशों में भौतिक सुखों की न्यूनता न होते हुए भी सुख व शान्ति कहाँ?

उपनिषत्कार ने ठीक ही कहा है कि -

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।[3]

---

1. भर्तृहरि, वैरग्यशतकम् 12 वां श्लोक
2. मनुस्मृति 2.27
3. कठोपनिषद् 2.27

अर्थात् मनुष्य सांसारिक धनों या पदार्थों से कभी तृप्त नहीं हो सकता। समस्त वैदिक दर्शनों का भी यही लक्ष्य रहा है कि शाश्वत-सुख (मोक्ष) कैसे उपलब्ध हो सके। संसार की प्राचीनतम पुस्तक ईश्वरीय ज्ञान वेदों में मोक्ष-प्राप्ति या परम सुख का उपाय शुद्धान्त:करण करके धर्मानुष्ठान करते हुए परब्रह्म का जानना ही है। वेद में कहा है -

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।[1]

यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः।।[2]

अर्थात् परब्रह्म को जानकर ही मृत्यु दु:खों से पार होकर मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है। इससे भिन्न और कोई उपाय नहीं है, क्योंकि उस परमब्रह्म का आश्रय (शरण) अमृत= मोक्ष सुखप्रद है और जिसकी अकृपा या उपासना न करना ही मृत्यु दु:खों का कारण है। उस परब्रह्म को जानने व प्राप्त करने के लिए ऋषि-मुनियों ने जीवन भर तपस्यारत होके जो ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) प्राप्त किया है, उसी का संग्रह उपनिषद् ग्रन्थों में है, इसलिए इन्हें ब्रह्मज्ञान की उत्कृष्टतम पुस्तकें भी माना जाता है। 'उपनिषद्' शब्द का यौगिकार्थ भी इसी बात की पुष्टि करता है। इस शब्द में 'उप' तथा 'नि' दो उपसर्ग तथा 'षद्लृ' धातु है। जिसका अर्थ यह है-

'उप सामीप्येन नितरां सीदन्ति प्राप्नुवन्ति
परं ब्रह्म यया विद्यया सा उपनिषद्।'[3]

अर्थात् उपनिषद् वह विद्या है जिसके द्वारा परब्रह्म का ज्ञान होने से परब्रह्म के सामीप्य को प्राप्त किया जा सके और उपनिषद्=परब्रह्म-ज्ञान का प्रतिपादन करने से 'ईशादि' ग्रन्थों का नाम भी उपनिषद् प्रसिद्ध हुआ। श्री शंकराचार्य जी ने उपनिषद् की व्याख्या करते हुए लिखा है -

'सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषद् वाच्या संसारस्यात्यन्तावसादनात् उपपूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात् ग्रन्थोऽप्युपनिषद् उच्यते।[4] अर्थात् यह उपनिषद् नामक ब्रह्मविद्या संसार के अत्यन्त अवसादन=उच्छेद करने के लिए है। उपपूर्वक सद् धातु का ऐसा अर्थ होने से। किन्तु यह सत्य नहीं है। उपनिषद् से दु:खोच्छेद होता है। संसारोच्छेद नहीं। यह विद्या अत्यन्त गूढ़ होने से 'रहस्य' नाम से भी जानी जाती है।

---

1. यजुर्वेद 31.18
2. यजुर्वेद 25.13
3. 108 उपनिषद्, ब्रह्मविद्याखण्ड
4. शाङ्करभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद् भूमिका

व्याकरण महाभाष्य में महर्षि पतञ्जलि ने उपनिषद् को 'रहस्य' नाम देकर लिखा है-

चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः।[1]

वेद के अन्तिम भाग का नाम उपनिषद् है। अत एव यह 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषद् से पहिले क्रमशः आरण्यक, ब्राह्मण, संहिता, ये तीन विभाग और हैं। संहिताभाग 'मन्त्र' नाम से प्रसिद्ध है, एवं ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, इन तीनों की समष्टि 'ब्राह्मण' नाम से व्यवहृत होती है। उपनिषद् ज्ञानकाण्ड है, आरण्यक उपासनाकाण्ड है, एवं ब्राह्मण कर्म काण्ड है। इन तीनों मूलभूत संहिताभाग में क्रमशः विज्ञान, स्तुति, इतिहास इन तीन काण्डों का समावेश है। मूलभूत संहिताभाग के व्याख्या का ही नाम ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् है। ऐसी अवस्था में यह मान लेना पड़ता है कि ब्राह्मणादि में भी कर्म-उपासना-ज्ञान इन अपने अपने प्रवाण विषयों के साथ साथ विज्ञान, स्तुति, इतिहास इन तीनों विषयों का भी समावेश है।

उपनिषदों में मुख्य रूप से 'आत्मविद्या' का प्रतिपादन है, जिसके अन्तर्गत ब्रह्म और आत्मा के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के साधन और आवश्यकता की समीक्षा की गयी है। आत्मज्ञानी के स्वरूप, मोक्ष के स्वरूप आदि अवान्तर विषयों के साथ ही विद्या, अविद्या, श्रेयमार्ग, प्रेयमार्ग, आचार्य आदि तत्सम्बद्ध विषयों पर भी भरपूर चिन्तन उपनिषदों में उपलब्ध होता है। वैदिक ग्रन्थों में जो दार्शनिक और आध्यात्मिक चिन्तन यत्र-तत्र दिखाई देता है, वही परिपक्व रूप में उपनिषदों में निबद्ध हुआ है।

डॉ. उमाशंकर शर्मा कहते हैं कि वैदिक कर्मकाण्ड के शिखर-ग्रन्थ जिस प्रकार वेद के व्याख्यान ग्रन्थ ब्राह्मण हैं, उसी प्रकार ज्ञानकाण्ड की परिणति उपनिषदों में हुई है। ब्राह्मणों पर कर्मकाण्ड-प्रधान मीमांसा-दर्शन आश्रित है तो उपनिषदों के बिखरे हुए वाक्यों का समन्वय वेदान्त-दर्शन में हुआ है। वैदिक दर्शन की कालगत और विषयगत परिणति उपनिषदों में ही है। इसीलिए आचार्यों ने इन्हें "वेदान्त" की भी संज्ञा दी है। प्रचार की दृष्टि से सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में उपनिषद् अग्रणी है। देश-विदेश के विद्वानों ने अपनी श्रद्धा के सुमन उपनिषदों के विषय में रखे हैं।

और आगे डा. उमाशंकर शर्मा 'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जो उपनिषद् के अर्थ किये गये है वे इनके स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। उप और नि इन दो उपसर्गों के अनन्तर सद् धातु से क्विप् प्रत्यय लगकर इस शब्द की निष्पत्ति होती है। साधारणतः इसका अर्थ होता है गुरु के निकट बैठकर प्राप्त किया गया ज्ञान। फिर भी सद् धातु के तीन अर्थों से आध्यात्मिक उत्कर्ष वाले

1. पातञ्जल व्याकरण महाभाष्य, प्रथम आह्निक

निर्वचन किये हैं। सद् के तीन अर्थ है-विशरण (नाश), गति (ज्ञान या प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना)। शंकराचार्य के अनुसार यह सर्वानर्थकारी संसार का नाश करती है (इसके ज्ञान से भवचक्र-संसार में आना-जाना समाप्त होता है), अविद्या को शिथिल करती है तथा ब्रह्म की प्राप्ति (ज्ञान) कराती है।[1] उपनिषदों का अध्ययन एकान्त में गुरु की कृपा से होता रहा है अतः इन्हें 'रहस्यविद्या' भी कहा गया है। इनमें मुख्य रूप से ब्रह्म, सृष्टि, जीव, आत्मा, प्राण, पुनर्जन्म, कर्म तथा नैतिकता का उपदेश है। इनमें उपदेश की अनेक विधियों का प्रयोग मिलता है-कहीं प्रतीक रूप में, कहीं आख्यान के द्वारा तो कहीं युक्तियों से दर्शन के गूढ़ रहस्य को स्पष्ट किया गया है। आधुनिक इतिहासकार उपनिषदों को वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता के विरुद्ध ज्ञानमार्गियों की प्रतिक्रिया मानते हैं किंतु आरण्यकों के द्वारा दोनों मार्गों का सातत्य सिद्ध होने से यह मान्यता भ्रामक है।[2]

'उपनिषद्' के नाम से पर्याप्त साहित्य विकसित हुआ है। बहुत बाद तक ऐसी रचनाएं होती रही हैं। अतः इनमें प्राचीन और अर्वाचीन का पार्थक्य किया गया है। प्राचीन उपनिषदें विभिन्न वैदिक शाखाओं से संबंध हैं इनकी संख्या 13 से अधिक नहीं जबकि उपनिषदों के नाम से मिलने वाली पुस्तकें डेढ़ सौ के आसपास हैं प्राचीन उपनिषदों के नाम इस श्लोक में प्रतीक रूप से दिए हैं-

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥[3]

इसमें ईशोपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् निर्दिष्ट हैं। इन दसों के अतिरिक्त कौषीतकि, श्वेताश्वतर तथा मैत्रायणी भी प्राचीन उपनिषदें हैं। इस प्रकार इनकी संख्या तेरह होती है। इनमें छान्दोग्य और बृहदारण्यक विशालकाय हैं जब कि माण्डूक्य (12 वाक्य) तथा ईश (18 मन्त्र) बहुत छोटी उपनिषदें हैं। यहां इन का संक्षिप्त विवरण जानने योग्य है-

ऋग्वेदीय उपनिषद् :

ऋग्वेद से सम्बद्ध उपनिषदों में दो ही प्राचीन हैं-

1. ऐतरेय, तथा 2. कौषीतकि

---

1. ईशोपनिषद्भाष्य- उपनिषादयति सर्वानर्थकरं संसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति ब्रह्म च गमयति।
2. ऋक्सूक्तनिकरः पृष्ठ 16
3. मुक्तिकोपनिषद् 1/30

महिदास ऐतरेय नामक ऋषि से सम्बद्ध यह ऐतरेय उपनिषद् है। इसमें छोटे-छोटे अध्याय हैं। ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ से षष्ठ अध्याय ही इस उपनिषद् के रूप में व्याख्यात हैं। इसमें सृष्टि का वर्णन[1], आत्मा का विवेचन[2], प्रज्ञान की ब्रह्म रूपता[3] (प्रज्ञानं ब्रह्म), गर्भ का वर्णन[4] ये विषय वर्णित हैं। कौषीतकि उपनिषद् पूर्णतः गद्य में है। इसमें चार अध्याय हैं जो वस्तुतः इसी नाम के आरण्यक के तृतीय से षष्ठ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में मृत्यु के अनन्तर प्राप्त देवयान और पितृयान का वर्णन है। उद्दालक आरुणि को चित्र नामक राजा ने ये उपदेश दिये हैं। उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु के साथ मरणोत्तर गति की शिक्षा चित्र से प्राप्त करते है। अन्य अध्यायों में दार्शनिक उपदेशों के साथ प्राणतत्व का विस्तृत विवेचन है। प्राण को क्रमशः जीवन, चैतन्य और आत्मा कहा गया है। चतुर्थ अध्याय में काशिराज अजातशत्रु बालाकि को परब्रह्म का उपदेश देते हैं। ये दोनों उपनिषदें प्राचीनतम छह उपनिषदों में रखी जाती हैं जिनमें शुद्ध वेदान्त सिद्धान्त समझाये गये हैं।

यजुर्वेदीय उपनिषद् :

शुक्ल यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय[5] के रूप में **ईशोपनिषद्** उपनिषदों में प्राचीनतम है क्योंकि अन्य उपनिषदें ब्राह्मणों या आरण्यकों के अंग हैं जबकि यह संहिताभाग का ही अंश है। इसका आरम्भ 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' से होता है अतएव प्रथम शब्द के आधार पर शीर्षक मिला है। इसमें 18 मंत्र (वाजसनेयि में 17) हैं। इसमें आत्मकल्याण के लिये नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षाएँ दी गयी हैं जैसे-त्याग पूर्वक भोग[6], कर्म[7], अनेकता[8], अन्वीक्षण[9], विद्या-अविद्या[10], संभूति-असंभूति[11],

---

1. आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। (ऐतरेय उपनिषद् 1.1.1)
2. ऐतरेय उपनिषद् 2.3.1
3. ऐतरेय उपनिषद् 2.3.3
4. ऐतरेय उपनिषद् 2.1.1
5. काण्व तथा वाजसनेयि शाखा 40वां अध्याय
6. ईशोपनिषद् मंत्र 1
7. ईशोपनिषद् मंत्र 2
8. ईशोपनिषद् मंत्र 4
9. ईशोपनिषद् मंत्र 6
10. ईशोपनिषद् मंत्र 11
11. ईशोपनिषद् मंत्र 14

हिरण्मय पात्र[1], सत्य का स्वरूप तथा मरणकाल की प्रार्थना[2]। यह गीता के समान लोकप्रिय है।

बृहदारण्यकोपनिषद् भी इसी वेद से सम्बद्ध है जो शतपथ ब्राह्मण के अंतिम छह अध्यायों के रूप में है। इसके प्रत्येक अध्याय का विभाजन ब्राह्मणों में है। विविध कथाओं के द्वारा इसमें दार्शनिक बातें समझायी गयी हैं। इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय में सृष्टि का हय, वाजी, अर्वा तथा अश्वरूप का वर्णन, प्राण के सम्बंध में देवासुर कथा, सृष्टि रचना, अहं ब्रह्मास्मि का अर्थ, धर्म की उत्पत्ति, प्राण की सर्वोत्कृष्टता तथा प्राण इंद्रिय विवाद[3], इन कथाओं में गार्ग्य तथा काशिराज अजातशत्रु का संवाद, याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद, विदेहराज जनक की राजसभा में याज्ञवल्क्य का शास्त्रार्थ, जाबालि और श्वेतकेतु का संवाद ये मुख्य विषय हैं। आत्मा के स्वरूप का तथा उसकी प्राप्ति के साधन का इसमें स्पष्ट वर्णन है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन आत्मज्ञान के उपाय हैं।[4] आकार-प्रकार में यह उपनिषद् विशाल है।

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध **तैत्तिरीय उपनिषद्** इसी नाम के आरण्यक का अंश है। इसमें तीन अध्याय हैं जिन्हें क्रमशः शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली कहते हैं। इन्हें अनुवाकों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में वैदिक उच्चारण के नियम तथा स्नातक को उपदेश, आत्मा का शरीर से निकलने का मार्ग[5] का उपदेश दिये गये है।[6] द्वितीय अध्याय में सृष्टि उत्पत्ति[7], पंचकोश[8], सत्-असत्[9] आनन्द[10] की मीमांसा आदि विषयों पर विशेष ध्यान आकर्षित किया गया है। तृतीय अध्याय में वरुण और उनके पुत्र भृगु के सम्वाद के रूप में ब्रह्म को जगत् के जन्म, पालन और संहार का कारण कहते हुए 'पंचकोशों' का विवरण दिया गया है और ब्रह्म को अन्ततः आनन्दमय कहा गया है।[11]

---

1. ईशोपनिषद् मंत्र 15
2. ईशोपनिषद् मंत्र 17
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 1.1
4. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/5/6
5. तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षाध्याय वल्ली 6/1
6. इस अध्याय को शिक्षाध्याय वल्ली नाम से भी कहा जाता है। द्रष्टव्य तैत्तिरीयोपनिषद्, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार।
7. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली 1/3
8. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली 2/1
9. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली 7/1
10. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली 8/1
11. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली 1/1

कठोपनिषद् का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा से है। इसमें दो अध्याय हैं। प्रत्येक का विभाजन तीन तीन वल्लियों में हुआ है। इस उपनिषद् की प्रथम वल्ली में यम और नचिकेता के सम्वाद के रूप में आत्मा का विवेचन है।[1] इसमें श्रेय और प्रेय तथा विद्या अविद्या का विवेचन महत्वपूर्ण है। रथ का रूपक देकर जीवात्मा के शरीरादि सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है और योग को आत्मप्राप्ति का उपाय बताया गया है।[2] इस उपनिषद् में ऋत तथा सत्य में भेद, यमाचार्य द्वारा जीव तथा ब्रह्म के रूप का वर्णन किया गया है।[3]

इसी वेद से सम्बन्ध **श्वेताश्वतरोपनिषद्** बहुत बाद की रचना है। इसमें सांख्यदर्शन के कतिपय सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। 'अजामेकां लोहितशुक्ल-कृष्णाम्'[4] के द्वारा प्रकृति, उसके गुणों तथा पुरुष का प्रतिपादन है। इसमें छह अध्याय हैं। सांख्य, शैवदर्शन और भक्ति का विवेचन इसकी विशिष्टता है। इस उपनिषद् में ब्रह्म के चक्र का वर्णन है।[5] ईश्वर, जीव, प्रकृति का भी वर्णन इसमें किया गया है।[6] इसमें आत्मा का विवेचन भी विस्तृत रूप में मिलता है। कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता से सम्बद्ध मैत्रायणी उपनिषद् भी परवर्त्ती युग की रचना है। प्राचीन उपनिषदों के समान गद्यबद्ध होने पर भी वैदिक भाषा के लक्षण इसमें नहीं मिलते। इसमें सात अध्याय हैं। सांख्य दर्शन, योग के अष्टांग तथा कुछ वेद विरोधी सिद्धान्त भी इसमें वर्णित हैं। कुछ अन्य उपनिषदों के उद्धरण भी इसमें मिलते हैं। इस गद्यात्मक उपनिषद् में कहीं कहीं पद्य भी हैं। इसे मैत्री उपनिषद् भी कहा गया है। इसी वेद के तैत्तिरीयारण्यक का दशम प्रपाठक महानारायणोपनिषद् कहलाता है। सायण भाष्य के साथ यह प्रकाशित है। मैत्रायणी की अपेक्षा यह प्राचीनतर है। इसके एक मंत्र[7] का उद्धरण यास्क ने निरुक्त[8] में दिया है।

सामवेदीय उपनिषद् :

सामवेद की तवल्कार शाखा के छान्दोग्य ब्राह्मण के दस अध्यायों में अन्तिम आठ को छान्दोग्योपनिषद् कहते हैं। इसमें आठ अध्याय हैं जो कुल 154

---

1. कठोपनिषद् प्रथम वल्ली
2. कठोपनिषद् द्वितीय वल्ली
3. कठोपनिषद् पंचमी वल्ली
4. श्वेताश्वेतरोपनिषद् (4/5)
5. श्वेताश्वतर उपनिषद् 1/3
6. श्वेताश्वतर उपनिषद् 1/7
7. तैत्तिरीयारण्यक 10/20
8. निरुक्त 2/3

खण्डों में विभक्त हैं। यह प्राचीन एवं विशालकाय उपनिषद् है। प्रत्येक अध्याय में आख्यानों का आधिक्य है। इस उपनिषद् में ओंकार अथवा उद्गीथ की उपासना[1], सप्तविध सामगान का वर्णन[2] तथा बक दाल्भ्य, उषस्ति चाक्रायण इत्यादि सामगायकों तथा दार्शनिकों का आख्यान है। चतुर्थ प्रपाठक में सत्यकाम, जाबाल, रैक्व इत्यादि का आख्यान है। पंचम प्रपाठक में प्रवाहण जैबलि तथा श्वेतकेतु आरुणेय का दार्शनिक सम्वाद है। इसमें जीव के पितृलोक गमन का वर्णन है। इसी में केकय अश्वपति के सृष्टि विषयक सिद्धान्तों का वर्णन है जिसमें छह दार्शनिकों के मतों का समन्वय है। षष्ठ प्रपाठक में श्वेतकेतु तथा उनके पिता उद्दालक आरुणि का संवाद है जिसमें 'तत्त्वमसि' को अनेक उदाहरणों से समझाया गया है। सप्तम प्रपाठक में नारद और सनत्कुमार का संवाद है जिसमें प्राण की महत्ता निर्दिष्ट है। अन्त में ब्रह्म के अन्तिम रूप 'भूमा' (असीम) को समझाया गया है- "यो वै भूमा तदमृतम्, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्"[3]। अन्तिम अध्याय में इन्द्र और विरेचन का सम्वाद है। आत्मप्राप्ति के व्यवहारिक उपायों का भी यहां वर्णन है।

सामवेद की जैमिनीय शाखा से सम्बद्ध **तवल्कारोपनिषद्** है जिसे इसके प्रथम शब्द 'केनेषितम्' के आधार पर **केनोपनिषद्** के नाम से जाना जाता है।[4] इस उपनिषद् में चार खण्ड हैं। इसमें उपास्य और निर्गुण ब्रह्म का अंतर स्पष्ट किया गया है। इसमें उमा हैमवती के रोचक आख्यान के द्वारा ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता का विवेचन किया गया है। इसमें उपनिषद् का उपदेश दिया गया है।

अथर्ववेद उपनिषद् :

अथर्ववेद से सम्बद्ध तीन उपनिषदें है- प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य। इसमें **प्रश्नोपनिषद्** अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा से सम्बद्ध है। इसमें छह ऋषियों (सुकेशा, भार्गव, आश्वलायन, सत्यकाम, सौर्यायणी तथा कबन्धी) के प्रश्नों का समाधान पिप्पलाद ऋषि के द्वारा किया गया है। इसीलिये इसका विभाजन प्रश्नों में हुआ है। पूरी उपनिषद् गद्य में है- कहीं कहीं पद्य भी है। प्रथम प्रश्न पृथ्वी की प्रजाओं की सृष्टि के स्त्रोत के विषय में[5], दूसरा प्रश्न देवताओं के विषय में[6], तीसरा

---

1. छान्दोग्योपनिषद् प्रथम प्रपाठक
2. छान्दोग्योपनिषद् द्वितीय प्रपाठक
3. छान्दोग्योपनिषद् 7/25
4. केनोपनिषद् 1/1
5. प्रश्नोपनिषद् 1/1
6. प्रश्नोपनिषद् 2/1

प्रश्न प्राणों के आवागमन के विषय में[1], चतुर्थ प्रश्न आत्मा की अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) के विषय में[2], पञ्चम प्रश्न ओम् की उपासना से जुड़ा[3] तथा अंतिम प्रश्न षोडशकला सम्पन्न पुरुष से सम्बद्ध है।[4] पिप्पलाद के उत्तर भी अध्यात्मवाद के रहस्यों का अनावरण करते हैं।

मुण्डकोपनिषद् अथर्ववेद की शौनक शाखा से सम्बद्ध है। इसका नाम इसके अध्येताओं के केश रहित (मुण्डित) स्वरूप के कारण है। इसमें तीन मुण्डक हैं, प्रत्येक में दो-दो खण्ड है। ब्रह्मा अपने पुत्र अथर्वा को ब्रह्म विद्या प्रदान करते है, यही इसका विषय है। परा अथा अपरा विद्याओं का अन्तर बतलाते हुए ब्रह्म से जगत् की सृष्टि का वर्णन किया गया है। इसमें जीव और ब्रह्म का द्वैत कहा गया है- "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"।[5] जीव कर्मफल का भोक्ता और परमात्मा उसका साक्षी है।

माण्डूक्योपनिषद् केवल 12 वाक्यों का उपनिषद् है। ओम् के तीन अक्षरों (अ, उ, म्) की विशिष्ट व्याख्या इसमें की गयी है। चैतन्य की तीन अवस्थाओं के द्योतक ये तीन वर्ण हैं। पूरा ओम् चतुर्थ अवस्था का बोधक है। इसलिये आत्मा को चतुष्पाद् कहा गया है। इस उपनिषद् पर गौडपाद ने चार खण्डों में माण्डूक्य कारिका लिखी है जो अद्वैतवाद का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है।

इन उपनिषदों से जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है उसकी प्रतिष्ठा तीन बातों पर होती है-

"तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा
वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्"।[6]

'तप' 'दम' तथा 'कर्म'। मनुष्य में जो शक्ति है उसमें कुछ सम्भालकर रख ली जाती है, अपने नियंत्रण में ले ली जाती है, काम में नहीं लायी जाती, कुछ काम में लायी जाती है। जो नियंत्रण में ले ली जाती है अर्थात् काम में नहीं लायी जाती है, वह या तो शारीरिक है, या मानसिक। शारीरिक नियंत्रण को 'तप' कहते हैं, मानसिक नियंत्रण को 'दम' कहते हैं। जो शक्ति काम में लायी जाती है उसे 'कर्म' कहते हैं। ब्रह्मज्ञान की प्रतिष्ठा, आधार स्तम्भ उसकी नीव ये तीन 'तप' 'दम' तथा 'कर्म' हैं। बातें ही बनाने का नाम ब्रह्मज्ञान नहीं, कर्म उसका आवश्यक अंग है। जिस

---

1. प्रश्नोपनिषद् 3/1
2. प्रश्नोपनिषद् 4/1
3. प्रश्नोपनिषद् 5/1
4. प्रश्नोपनिषद् 6/1
5. मुण्डकोपनिषद् 3/1
6. कठोपनिषद् 4/8

चीज की 'प्रतिष्ठा' नीव होती है, आधार होता है उस पर 'आयतन' इमारत भी खडी होती है। वह आयतन है "वेद", वेदों के सब अंग और इन दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाला 'सत्य'! 'तप' 'दम' और 'कर्म' की नीव से जो इमारत उठेगी उसका भव्य रूप होगा वेद अर्थात् 'ज्ञान' अर्थात् 'फिलासफी' वेदांग अर्थात् 'विज्ञान' अर्थात् 'सायन्स' और इन दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न 'सत्य'। यही उपनिषदों का विज्ञान है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 18 (64-77) January-June 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

उपनिषदों में वर्णित उपासना पद्धतियां

-डॉ. विजेन्द्र प्रकाश कपरूवान

विभागाध्यक्ष, सत्त्वयोगपीठ,
अमितग्राम गुमानीवाला, ऋषिकेश

उपनिषदों में आयी हुई उपासनाएं चित्तशुद्धि एवं वस्तु तत्त्व को प्रकाशित करने के कारण ईश्वरीय ज्ञान में उपयोगी हैं। जिसके माध्यम से पुरुष पापों को दूर कर सकता है। जीवन के उत्थान के लिए उपासनाएं परम आवश्यक हैं क्योंकि जनकल्याण का यही मुख्य स्रोत है। उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य उपास्य और उपासक के मध्य तादात्म्य स्थापित करना है। यह कार्य उपासना पद्धति के माध्यम से किया जा सकता है। औपनिषदिक उपासना पद्धति में जहाँ सत्त्वगुण की बहुलता रही है वहां स्मार्त, पौराणिक और तान्त्रिक उपासनाएं रजस् या तमस् प्रधान रही है। मूलत: उपासना मानव की चित्तशुद्धि करने वाली होने से प्रकाशिका और अद्वैत ज्ञान में उपकारिणी है।

आत्मा की उपासना–उपनिषदों में मुख्यरूप से आत्मा की उपासना को बताया गया है क्योंकि वह रज्जु में सर्प की कल्पना सदृश जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था में स्थित रहता है किन्तु यह इसका मुख्य रूप न होकर द्वैत स्थिति है। ज्ञानी के लिए पंच महाभूतों से बना सम्पूर्ण जगत् आत्मामय होने से जिज्ञासा है, किसी को दिखायी न देने से कर्मेन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता इसलिए वह विशेषता रहित है। विचार-विमर्श तथा उपदेशों से यह नहीं माना जाता कि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में एक होता हुआ किसी का कार्य नहीं हैं। विघटन से शून्य सबका कारण शुद्ध चैतन्य अद्वैत रूप शिव है वही आत्मा होने से जानने योग्य है।[1] सृष्टि की व्यापक दृष्टि से सत्य प्रतीत होने पर आत्मा अनुकरणीय है। इसकी उत्तम स्थिति को जाननेवाला पुरुष अपने मन में यदि किसी लोक और ऐश्वर्य आदि भोगों

1. माण्डूक्य उप०7 नान्त:प्रज्ञं न बहि:प्रज्ञं नोभयत: प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय:॥

की कामना करता है वे सभी कामनाएं पूर्ण होती हैं इसलिए साधारण पुरुष को अपनी इच्छा पूर्ति के लिए आत्मवेत्ता की उपासना करनी चाहिए[1] क्योंकि पुरुष आत्मोपासक होने से स्वयं शासनकर्त्ता बन जाता है। शारीरिक दृष्टि में आत्मा ब्रह्मरूप से मनुष्य की वाणी में स्थित है ऐसे में योग अर्थात् श्वासयुक्त वायु में प्राण, कार्य में हस्त चलने की क्रिया पैर तथा त्यागने की दृष्टि से वायु में ब्रह्म स्थित है। आध्यात्मिक रूपों में ये सभी क्रियायें इसी से पूर्ण होती हैं और किसी से नहीं।[2] अत: शारीरिक दृष्टि में आत्मरूपी ब्रह्म की सत्ता होने से उसको उपासना द्वारा जाना जा सकता है।

इस प्रकार आत्मा दैवरूप में विभिन्न होते हुए ब्रह्म दृष्टि से एक है। इसकी उपासना से पुरुष-कामनाओं की पूर्ति होती है। मानवरूपी शरीर की जन्म से लेकर मृत्यु तक की क्रियायें इसी से सम्पन्न की जाती हैं।

उपनिषदों में अनेक प्रकार की उपासनाओं का वर्णन मिलता है, जिनमें कुछ उद्देश्य प्राप्ति के लिए हैं, कुछ अन्य ज्ञान प्राप्ति हेतु है। इच्छा प्राप्ति के लिए पुरुष सामगान के द्वारा उपासना करता है वह सामगान जिस क्रम में बनाया गया है उसकों वहीं से आरम्भ करना चाहिए।[3] ये उपासनाएं नियमों पर आधारित होती है जिससे पुरुष अपने लक्ष्य तक पहुँच पाता है। गाया जाने वाला सामगान जिस ऋचा में होता है, ऋचा के ऋषि एवं जिसकी उपासना करनी हो उस देवता को नामादि सहित क्रम से गायें अर्थात् इन सबका चिन्तन करें।[4] उपासना में ऋचादि का पूर्णतया शुद्धिकरण होना चाहिए।

यदि किसी देवता की उपासना छन्दों में की जाती है व जिस छन्द को बोला जाता है उसको प्रारम्भ से पढ़ना चाहिए। स्तोम कर्म से होने वाली फल-स्तुति का आरम्भ इसी प्रकार है।[5] उत्तम फल प्राप्ति हेतु उपासना के विधि विधान अति आवश्यक है। सामगान से यदि किसी दिशा (पूर्व-पश्चिम) की उपासना करनी हो

---

1. मुण्डको. 3.1.10 यं यं लोकं संविभाति विशुद्धसत्त्व: कामयते यांश्च कामान्।
   तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकाम:॥
2. तैत्तिरीय क. 3.10.2 य एवं वेद। क्षेम इतिवाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयो:। कर्मेति हस्तयो:।
   गतिरिति पादयो:। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषी: समाज्ञा:।
3. छा०उ० 1.3.8 अथ खल्वाशी: समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत्सामोपधावेत्।
4. छा०उ० 1.3.9 यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत्॥
5. छा०उ० 1.3.10. येन च्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाण: स्यात्तꣳ स्तोममुपधावेत्॥

तब दिशा के देवता सहित स्तुति करें किसी अन्य की नहीं।[1] अतः पुरुष को उपासना द्वारा एक लक्ष्य सिद्ध करना चाहिए। पुरुष अप्रमत्त होकर उपासना का प्रयोग करे, वह जिस कामना से उपासना करे उसका विस्मरण नहीं करना चाहिए, यदि पुरुष व्यवधान रहित उपासना कर लेता है तब वह बहुत शीघ्र कामनाओं को पूर्ण होते हुए देखता है।[2] उपासना हेतु विधि आवश्यक है जिससे पुरुष अनुकूलता प्राप्त कर सकें।

इस प्रकार किसी भी प्रकार की कोई उपासना आरम्भ करने से पहले उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान में रखना अति आवश्यक है क्योंकि किसी भी कार्य को अन्त तक सुचारु रूप से करने के बाद ही उत्तम फल की प्राप्ति होती है।

ब्रह्मरूप में प्राण उपासना–उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप को विभिन्न रूपों में प्रतिपादित किया है। पृथ्वी पर रहने वाले सभी जीव प्राण धारण करते हैं अर्थात् प्राण रूप सब में समान भाव से स्थित हैं। देह त्याग के पश्चात् मुष्य के प्राण इस प्राण ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।[3] जिस प्रकार रथ के पहिए में अरे लगे रहते हैं वैसे ही सारा जगत् प्राण निर्मित है। यदि पुरुष कहता है कि मैं 'भू' के आश्रय में हूँ तब इसके तीनों लोक इसी में आ जाते है[4] क्योंकि पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में भूः है। भुवः की शरण अग्नि, वायु व आदित्य कही जाती है। तीन तत्त्व भुवः में प्रतिष्ठित हैं।[5] अग्नि आदि भुवः के आश्रय से इसमें समाहित है। इसी प्रकार स्वः में तीनों वेद निहित माने जाते हैं। स्व कहने से ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद तीनों का ग्रहण हो जाता है।[6] अतः सभी ग्रहण और अग्रहण प्राण द्वारा सम्भव है।

पुरुष प्राण से जीवित रहकर अपने परिवार को सुखी देख पाता है, स्वयं को बनाये रखने के लिए यज्ञ करता है उसकी आयु के प्रथम 24 वर्ष प्रातः सवन माने

---

1. छा०उ० 1.3.11 यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेत्॥
2. छा०उ० 1.3.12 आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृद्धयेत यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति॥
3. छा० उपनिषद् 3.15.4 स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किंच तमेव तत्प्रापत्सि।
4. छा०उ० 3.15.5 अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्ये इत्येव तदवोचम्॥
5. छा०उ० 3.15.6 अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम्॥
6. छा०उ० 3.15.7 अथ यदवोचꣳ स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम्॥

जाते हैं। इसमें यज्ञमय पुरुष गायत्री युक्त वसुओं की उपासना करता है। ये प्राणादि इन्द्रियां शरीर को चलाने के कारण वायु कही जाती हैं। इनके विना देह में कोई क्रिया नहीं होती है।[1]

पुरुष यज्ञ रूप से निष्पन्न उपासना द्वारा जीवन में उत्तम फलों को देखता है अन्य किसी कारण से नहीं। इन 24 वर्षों में पुरुष को कोई शोक प्राप्ति होती है तब वह प्राणादि वस्तुओं को अपने 44 वर्षों अर्थात् माध्यन्दिन सवन तक एक होने की कामना करता हुआ कहता है कि यज्ञ करते हुए 'मैं मृत्यु को न जाऊँ ऐसी उपासना से उसके शोक दूर हो जाते है जिससे वह निरोग हो जाता है।[2]' पुरुष स्वयं की किसी भी व्याधि को उपासना के माध्यम से दूर कर सकता है।

यज्ञ के आश्रय से पूर्ण विधि विधान से विद्वित उपासनाओं का फल नष्ट नहीं होता है। पुरुष को यज्ञ माना जाता है क्योंकि माला का पुत्र उत्पन्न और विधिपूर्वक यज्ञ में सोमरस का पान करना, पुत्रोत्पत्ति के समान है।[3] अतः ये दोनों यज्ञ के अंग होने से तुल्य हैष प्राणादि इन्द्रियों से युक्त यज्ञोपासना के पूर्ण स्वरूप को जानकर देहत्याग के समय पुरुष को ईश्वर के विषय में तीन बातों को जानना चाहिए–

1. परमात्मा देह की भांति कभी नष्ट नहीं होता है।

2. जिस प्रकार जलरहित मनुष्य क्षीण हो जाता है ईश्वर ऐसे क्षीण नहीं पड़ता। वह सर्वदा प्राणरूप में रहता है।[4] इस प्रकार ब्रह्मदृष्टि में प्राण सम्पूर्ण जगत् को बसाये हुए है। पंच महाभूतों व सवनों में स्थित वायु, रूद्रादि को इन्हीं के द्वारा जाना जा सकता है अतः पुरुष के प्राण की महत्ता याज्ञिक उपासनाओं से स्वतः प्रकट होती है।

---

1. छा०उ० 3.16.1 पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विꣳशतिवर्षाणि तत्प्रातः सवनं चतुर्विꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ति॥
2. छा०उ० 3.16.2 तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳ सवनमनुसन्ततुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत् एत्यगदो ह भवति॥
3. छा०उ० 3.16.5 अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगतीं जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते॥
4. छा०उ० 3.17.6 तद्धैतद्घोर आङ्गिरस5 कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणासꣳ शितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः॥

अध्यात्म एवं आधिदैविक दृष्टियों में ब्रह्मोपासनाएं–

अध्यात्म एवं आधिदैविक दृष्टियों में ब्रह्म श्रेष्ठ है। मनुष्य के शरीर में स्थित मन व आकाश दोनों ब्रह्म तत्त्व है। हमारा मन कुछ समय में आकाश से ऊपर तथा कुछ समय बाद कहीं ओर चला जाता है। इन मन से प्राणी मनन करता है जिसे अन्तकरण मन कहते है।[1] पुरुष अपने नेत्रों द्वारा विभिन्न रूपों को आदित्य के कारण देख पाता है, आदित्य एवं चक्षु परस्पर पूरक होते हुए समान भाव वाले है इनकी समानता को जानने वाला जगत् में प्रसिद्ध होकर ब्रह्म की भांति उच्च कीर्ति से युक्त होता है।[2] चक्षु रूप ग्रहण हेतु आदित्य से उत्साहित देखा जाता है।

पुरुष के कर्णो में अनेक दिशाओं की वार्ताएं सुनायी देती है, यदि दिशायें न होतीं तब वह कोई भी ध्वनि ग्रहण नहीं कर पाता। कर्ण दिशा रूप होने से ब्रह्म के पास है। ब्रह्म की ऐसी उपासनाओं से यज्ञादि फलों की प्राप्ति होती है।[3] अतः पुरुष के सुनने की क्रिया दिशाओं से पूर्ण हो जाती है। पुरुष का शरीर राजा की भांति कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से युक्त होता है, जो ब्रह्म रूप में स्थित है। इसके भीतर आकाश के समान सूक्ष्म हृदय है। अनेक श्रवण मननादि उपायों द्वारा उसमें स्थित पुण्डरीक ब्रह्म को जानना चाहिए।[4] सूक्ष्म व वृहन्तर रूपों से प्रतीत होने वाला ब्रह्म पुरुष हृदय में स्थित उपासना द्वारा जिज्ञास्य है। ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति करने में ज्ञानीजन को सूक्ष्म मानते है, पृथ्वी पर स्थित प्राणियों द्वारा गाये जाने पर गायत्री को पुरुष पृथ्वी मानते है, प्राणी पृथ्वी से भिन्न नहीं रह सकते।[5] पृथ्वी और गायत्री की समानता सिद्ध होने पर वह ब्रह्म रूप से उपासना योग्य है। विश्व में जितने भी स्थावर प्राणी जग में रहते हें सब उस ब्रह्म के द्वारा जन्म से लेकर हिलने डुलने की क्रिया करते है और अन्त में उसी में समाविष्ट हो जाते है इसलिए द्वैतरूपी मोह को त्यागकर शान्तभाव से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए क्योंकि पुरुष जैसा संकल्प करता है वैसे स्वरूप को वह प्राप्त हो जाता है।[6] अतः देह त्याग के पश्चात् उसको ऐसी

1. छा०उ० 3.18.1 मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च॥
2. छा०उ० 3.18.5 चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन स एवं वेद॥
3. छा०उ० 3.18.6 श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद॥
4. छा०उ० 8.1.1 अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्य-दन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति॥
5. छा०उ० 3.12.2
6. छा०उ० 3.14.1

स्थिति प्राप्त होती है जैसा कि वह प्रतिदिन निश्चय करता है।

इस प्रकार आध्यात्म मन के अन्तर्गत वाणी, प्राण चक्षु, क्षोत्र को रखा है और आधिदैविक में अग्नि, वायु, आदित्य एवं दिशा को रखा है।

आधिदैविक उपासना- उपनिषदों ने उद्गीथ को उत्कृष्ट मानते हुए उसको उपास्य बताया है। इसलिए इसमें अनेकों आधिदैविक उपासनाएं निहित हैं। इसमें तीनों वेद समाविष्ट हैं। 'ओ३म्' अक्षर से पुरुष वेदवाणी स्वीकार करते हुए इसके द्वारा यज्ञ क्रिया एवं ऋचाओं का गान करता है। इस परमात्मा रूपी अक्षर रूप ब्रह्म के लिए सभी वैदिक क्रियायें ईश्वरार्थ ही की जाती हैं। इसी ओंकार अक्षर रूप ब्रह्म की महिमा और हव्य (रस) से सभी यज्ञादि कर्म उसी अक्षर (ब्रह्म) की अर्चना के लिए सम्यक् किये जाते हैं।[1] आधिदैविक स्थिति में ओंकार की उपासना से अन्य उपासनायें मानी जाती हैं। यह आदित्य रूप में जाना जाता है और आदित्य प्राण रूप में। क्योंकि दोनों ही समान भाव वाले हैं। यह प्राण उष्ण है और वह सूर्य भी उष्ण है। प्राण देहत्याग के पश्चात् ब्रह्ममय हो जाता है तथा आदित्य नित्य रहने के कारण ब्रह्म है अत: वह ब्रह्म उद्गीथ है। इसलिए इस प्राण और सूर्य रूप में उद्गीथ (ओंकार) की उपासना करनी चाहिए।[2] इस अक्षर से पृथ्वी ही ऋक् है और अग्नि साम है। वह अग्निरूप साम, पृथ्वी रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है। अत: ऋचा में अधिष्ठित साम का गायन किया जाता है। साम दृष्टि से पृथ्वी 'सा' और अग्नि 'अम' जाने जाते हैं।[3] अत: सामवेद एवं ऋग्वेद पादों के मिले जुले होने के कारण पृथ्वी और अग्नि समान भाव वाले हैं। इसी प्रकार अन्तरिक्ष ऋक् और वायु साम है। वह वायु रूप साम अन्तरिक्ष रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है। वायु सम्बन्धित मन्त्र ऋग्वेद में अधिक मात्रा में प्राप्त होते है। जिससे पादों की समानता से वे ऋचायें होकर उनका गायन किया जाता है। अन्तरिक्ष के 'सा' और वायु को 'अम' मानकर दोनों को मिलाने से साम बनता है।[4]

इस प्रकार वेदों में निहित वेद वाली उद्गीथ का स्वरूप है। प्राण और आदित्य

---

1. छा०उ० 1.1.9 तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शꣳसत्योमित्युद्रायत्येतस्यैवाक्षर-स्यापचित्यै महिम्ना रसेन॥
2. छा०उ० 1.3.2 समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिममुं चोद्गीथमुपासित॥
3. छा०उ० 1.6.1 इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयत इयमेव साग्निरमस्तत्साम॥
4. छा०उ० 1.6.2 अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम। तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम॥

इसी तत्त्व में अक्षर रूप से लीन है। यह अक्षर शुभ और अशुभ सभी प्रकार के उद्देश्यों का कोश है। जिसको उपासना के माध्यम से जाना जाता है। इसी प्रकार द्यौ, आदित्य, नक्षत्र और चन्द्रमा आदि को भी साम रूप में कहा गया है।[1]

निराकार उपासना- उपनिषदों में आत्मतत्त्व के अतिरिक्त कर्मोपासनाओं का वर्णन मिलता है किन्तु निराकार ब्रह्मतत्त्व में कर्म एवं उपासनादि का कोई महत्त्व नहीं है। आत्मवेत्ता पुरुष प्रत्यक्ष वस्तुओं की विशेषता को कोई वरीयता नहीं देता है। उसकी दृष्टि एक निराकार तत्त्व पर स्थित रहती है। मनुष्य की इन्द्रियों से लेकर सभी सूक्ष्म तत्वों की समाप्ति उस निराकार आत्मा में होती है। इसलिए पुरुष निराकार उपासनाओं के द्वारा सांसारिक धर्मों में रहित मृत्यु को उचित दृष्टि से देखता है। निर्गुण निराकार ब्रह्म तत्त्व के विषय में श्रुति में कहा गया है कि जो शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित, रस रहित, और गन्ध रहित तथा जो अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त-अग्रिम, महत्तत्त्व से भी परे है एवं सर्वोपरि सत्यतत्त्व है, उस परब्रह्म परमात्मा को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से सदा के लिए छूट जाता है।[2] यही बात बृहदारण्यक में कही गयी है कि उस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता 'अक्षर' ऐसा कहते हैं। वह न स्थूल है न सूक्ष्म न छोटा है न लम्बा, न लाल है न स्नेहिक है। न छाया है न अन्धकार न वायु है और न आकाश है जो सङ्ग और रस से भी हीन है। जिसके न नेत्र हैं न कान हैं न वाक् है न मन है न तेज है और प्राण मुख माप आदि भी नहीं है। वह न अन्दर है न बाहर है वह न कुछ भक्षण करता है और न उसे अन्य कोई भक्षण कर सकता है।[3]

सकाम और निष्काम उपासना– इस द्वैतरूपी जगत् में सभी प्रकार के प्राणी जीवन-यापन करते हैं। जो अज्ञानी जीवित रहकर कर्मों द्वारा अनेक फलों की कामना रखते हैं। ऐसे कर्मों को निष्ठापूर्वक करने वाले पुरुष सकाम कहे जाते हैं, वे अविद्या में रत होने से आत्मा की स्थिति को स्वीकार नहीं करते हैं।

---

1. छा०उ० 1.6.3 द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम। तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते द्यौरेव सादित्योऽमस्तत्साम॥
   छा०उ० 1.6.4 नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम। तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते। नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम॥
2. कठोपनिषद् 1.3.15 अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥
3. बृहदारण्यक उपनिषद् 3.8.8 स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्रह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घमलोहितस्नेहमच्छायमतमोऽवायु आनाकाशमसङ्मरसमगन्धमचक्षुष्कम श्रोत्रम-वागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमब्रह्म न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन॥

उपनिषदों में सकाम उपासना को कर्मफल से युक्त बताया है। जो पुरुष आत्मा के शुद्ध स्वरूप को न जाकर मायारूपी संसार को सब कुछ मानते हैं, वह आत्मा का नाश करते हैं। अविद्या से युक्त ऐसे पुरुष मृत्यु को प्राप्त कर विभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं।[1] सकाम पुरुष आत्मघात रूप के कारण जन्म-मृत्यु को प्राप्त करते हैं। जो अपने कार्यों में लगकर उन्हीं की उपासना करते हैं, वे अज्ञान से पूर्ण घोर अन्धकार में जाकर गिरते हैं। कर्म विद्या आत्मज्ञान के विपरीत है। जो देवता की उपासना में लगे रहते हैं। कर्मोपासना वालों से कहीं अधिक अन्धकार को प्राप्त होते हैं।[2] अतः कर्म और उपासना इन दोनों का सामञ्जस्य स्थापित करके उपासना करनी चाहिए, जिससे वह अपने किसी भी उद्देश्य को प्राप्ति कर सके।

देह और उससे सम्बन्धित पति-पत्नी, भाई-बहन, पुत्रादि सहित सुख-दुःख वाला मानता है, जिससे सुखी होने पर सुखी होता है, और दुःखी होने पर दुःखी किन्तु जब इस शरीर से भिन्न अनेक उपदेश दिये जाते हैं, तब उनको समझकर ईश्वर के स्वरूप को जानने लगता है। उस समय मायारूपी बन्धनों को त्यागकर दुःखों को पार कर जाता है।[3] एक शरीर से युक्त पुरुष दो अवस्थाओं को प्राप्त करता है।

संसार में माने जाने वाले विभिन्न देवता एक तत्त्व में समाविष्ट हैं। तीनों वेद उसमें निहित होने के कारण ओङ्काररूपी अक्षर का वर्णन करते हैं, जो सकाम पुरुष उस तत्त्व को नहीं मानता, वह वेदों को पढ़कर क्या प्राप्त कर लेगा? अर्थात् कुछ नहीं किन्तु ज्ञानी उसको जानने से ब्रह्म की समानता को प्राप्त हुए रहते हैं।[4] सकाम पुरुष ब्रह्म से युक्त होता हुआ भी ज्ञान से कृतार्थ नहीं हो पाता पुरुष गुणों से सम्बद्ध फलयुक्त कर्मों को करता हुआ, उनके अनुसार भोग भोगता है। वह अनेक शरीरों को प्राप्त कर सत्त्व, रज एवं तमस् गुणों से त्रिगुण होता हुआ, धर्म-अधर्म एवं ज्ञानादि

---

1. कठोपनिषद् 2.2.3 ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥
2. ईशावास्योपनिषद्-3 असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
   ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
   ईशावास्योपनिषद्-9 अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
   ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥
3. श्वेताश्वतर उप० 4.7 समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
   जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
4. श्वेताश्वतर उ०प० 4.8 ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
   यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

मार्गों से जाने वाला, प्राणों का शासनकर्त्ता, कर्मों के अनुरूप गति प्राप्त करता है।[1] कर्मरूपी धर्मों से पूर्ण पुरुष को आत्मा के स्वरूप का ज्ञान स्वयं होने लगता है।

इस प्रकार पुरुष द्वैतरूपी मोह के कारण लोक में स्व-पर भेद से व्यवहार करता है। ऐसे सकाम पुरुष देहत्याग के पश्चात् विभिन्न लोकों और योनियों को प्राप्त करते हैं।

अध्यात्म सम्बन्धी सकाम उपासना- उपनिषदों में सकाम उपासनाओं का विशद वर्णन है। विनर्दि नाम का गान पशुओं के लिए अच्छा है। इसका सम्बन्ध उद्गीथ अग्नि देवता से है। वह ब्रह्म अनिरुक्त होने से पूर्णतया किसी के द्वारा नहीं जाना जा सकता, परन्तु प्रजापति का स्वरूप निरुक्त है, इसी प्रकार सोम देवता का स्वरूप ग्राह्य है। वायु मधुर है और सरलता से जानने योग्य है। इन्द्र का गान अधिक परिश्रम करके किया जाता है। बृहस्पति देवता का गान क्रौञ्च पक्षी की आवाज के सदृश है। सकाम पुरुष सभी का देवताओं के अनुरूप गान कर सकता है। मात्र वरुण सम्बन्धी गान को भ्रष्ट होने के कारण त्याग दे।[2] इन उपासनाओं को पुरुष अपने कर्मों के साथ ही पूर्ण कर सकता है।

पृथिवी पर जितने स्थावर- जङ्गम प्राणी हैं, वे सब गायत्री रूप में हैं। पुरुष की वाणी गायत्री है। उस वाणी के द्वारा प्राणी नामादि का उच्चारण करते हैं, जिससे अपने प्राणों का संकट आने से आवाज देकर एक दूसरे की रक्षा होती है। ये भयादि सकाम पुरुष के साथ सम्भव होते हैं।[3] गायत्री के कारण उसके अन्दर कामना रूप शक्ति जाग्रत होती है। जो शक्ति वाणी, भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय और प्राणरूप में स्थित छः रूपों से युक्त है।[4] गायत्री निर्विकार होते हुए सकाम पुरुष में निहित रहती है, जिसको वह अज्ञानवश नहीं जानता।

पुरुष-हृदय के भीतर सर्वलोक प्राप्त कराने वाले पांच देवता स्थित हैं, पूर्व दिशा की ओर हुआ हृदय का मुख्य प्राण है। हृदय स्थित तत्त्व से यह प्राण अपना संचार करता है, जिसके कारण इससे जुड़े हुए नेत्र, आदित्य, तेज एवं अन्नाद्य है। इसको ऐसे रूप में जानकर जो पुरुष हवि द्वारा उपासना करता है, उसको सकामरूपी

---

1. श्वे० उ० 5.7 गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
   स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः॥
2. छा०उ० 2.22.1
3. छा०उ० 3.12.1
4. छा०उ० 3.12.5

गौणफल की प्राप्ति होती है।[1] अतः अनेक उपासनाओं से अपने शरीर के भीतर उस तत्त्व को कर्म करते हुए जान सकता है।

इस प्रकार सकामी पुरुष जिससे सम्बद्ध कर्म करता है उन्हीं की दृष्टि देवों के स्वरूप को जान सकता है। शरीर के भीतर प्राणादि के विभिन्न रूपों में सकाम उपासनाओं से स्वर्ग प्राप्ति होती है।

उपनिषदों में विभिन्न उपासनाओं के द्वारा एक लक्ष्य तक पहुँचना बताया गया है। जिनमें सकाम उपासनाएं सम्मिलित है। आकाश के मध्य जो विद्युत् चमकती है। सारे अन्धकार को दूर कर देती है, जिससे अन्धकार छिन्न-भिन्न होकर समाप्त हो जाता है। यदि कोई विद्युत् को ब्रह्मरूप में ऐसे जानता है, वह पुरुष आत्मा के ऊपर अज्ञान का आवरण व्याप्त करने वालों का अहित कर देता है।[2] कर्मोपासनाएं आत्मज्ञान के विपरीत होने पर भी सकाम पुरुष को ब्रह्म प्राप्ति कराती हैं। मनुष्य के भीतर स्थित प्राण सम्पूर्ण इन्द्रियों को ऊर्ध्व की ओर ले जाता है, क्योंकि इसके बिना कोई इन्द्रिय सक्रिय नहीं हो सकती। इसीलिए सभी इन्द्रियों में प्रधान होने के कारण इसको 'उक्थ' कहा जाता है। इस दृष्टि से प्राण की ऐसी उपासना वाला पुरुष प्राणों की भांति श्रेष्ठ पुत्र को प्राप्त करके देहत्याग के पश्चात् उच्चलोक को जाता है।[3] प्राण शून्य देह मरा हुआ माना जाता है। उत्कृष्ट होने से इसकी उपासना ब्रह्म प्राप्ति में मुख्य साधन है।

प्राण की यजुर्वेद के रूप में उपासना करनी चाहिए। सम्पूर्ण ज्ञान वेदों में निहित है जिसको प्राणयुक्त पुरुष ग्रहण करके अन्य को बता सकता है। सम्पूर्ण प्राणियों द्वारा इसी का प्रबल योग मानने पर यह श्रेष्ठता से युक्त है ऐसा ज्ञाता बाद में यजुः के समान लोक की प्राप्ति करता है।[4] यजुष् रूप में प्राण की उपासना सकाम के साथ ब्रह्म का मार्ग स्पष्ट प्रतीत कराती है। सामवेद की दृष्टि से प्राण उपासनीय है। साम का गायन प्राणों द्वारा सम्भव है, जिससे ये बातें उसमें उपयुक्त हैं। प्राण उसी को श्रेष्ठता से उठने बैठने आदि क्रियाओं को करने में समर्थ हो पाते हैं। साम के

---

1. छा०उ० 3.13.1
2. बृ०उ० 5.7.1 विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ह्येव ब्रह्म॥
3. बृ०उ० 5.13.1 उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदꣳ सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद॥
4. बृ०उ० 5.13.2 यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति एवं वेद।

जानने वाला पुरुष यजुर्वेद की भांति फल पाता है।[1] प्राण सब भूतों में समानभाव से स्थित है। इसीलिए महान् होने पर पुरुष ब्रह्म में सर्वप्रथम इसका ज्ञान करते हैं।

यह 'क्षत्ररूप' से उपासना योग्य है। यदि कोई शत्रु मनुष्य के ऊपर प्रहार करता है, तब उस स्थान से उसका शरीर फट जाता है, किन्तु प्राण कुछ दिन पश्चात् घाव को पुनः माँस द्वारा भर देता है जिससे वहाँ पर कुछ दिखाई नहीं देता, इसीलिए प्राण क्षत्र है। जो इसको उपासता है। किसी से सहायता न लेने वाले प्राण की भांति विजयी होकर उसकी समानता को प्राप्त करता है।[2] अतः क्षत्र दृष्टि की उपासना सकाम के कारण ब्रह्मप्राप्ति में सहायक है।

इस प्रकार सकाम के उद्देश्य से पुरुष सब के लिए जिज्ञास्य ज्ञान की जान जाता है। अध्यात्मरूप में अपने शरीर पर हुए आघात से प्राणों के द्वारा ब्रह्मदृष्टि को अनुभव कर सकता है।

निष्काम उपासना- उपनिषदों में आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानने वाले जन जन्म-मरण के बन्धन से युक्त होकर संसारी जीव बनते हैं। किन्तु ज्ञानी के लिए आत्मा अत्यन्त समीप बन्धन को प्राप्त न कराने वाला तीनों कालों में जगत् के बाहर और भीतर विद्यमान है। पुरुष उसको जानने के कारण सकाम के विपरीत निष्काम भाव से किसी के प्रति घृणा नहीं करते, क्योंकि आत्मा के ज्ञान पर निष्काम पुरुषों का अधिकार है।

जब मनुष्य इस संसार में जन्म लेता है, तब कर्म करके जीवन को पूरा कर सकता है अन्यथा नहीं, लोक में रहकर सर्वप्रथम पुरुष को सौ वर्ष तक जीने की कामना करनी चाहिए। उसमें धर्म अर्थात् सावधानी पूर्वक अग्निहोत्रादि कर्म करने चाहिए, जिससे उसको पापों की प्राप्ति न हो।[3] ज्ञान और कर्म में सुनिश्चित विरोध है, किन्तु ज्ञान प्राप्ति के लिए पुरुष के निष्काम उत्तम कर्म करने की आवश्यकता है।

आत्म तत्त्व ज्ञान कभी रूप न बदलने वाला, चलन रहित, प्राणियों में सर्वदा एक रूप में स्थित रहता है, भिन्न भिन्न नहीं, विषयी इन्द्रियों द्वारा न जानने योग्य हैं, क्योंकि जहाँ तब इन्द्रियों की गति है। यह उससे आगे तक रहता है। स्थिर होते हुए

---

1. बृ०उ० 5.13.3 साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद।
2. बृ०उ० 5.13.4 क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्र क्षत्रमन्नमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद॥
3. ईशा०उ०म० 2 कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

चलायमानों को पीछे छोड़ देता है। उसी के कारण वायु संचित होकर प्राणों को कार्यों में लगाती है।[1] आत्मज्ञान अपने निरुपाधिक ज्ञान से युक्त होते हुए सर्वत्र प्रसिद्ध है। आत्मतत्त्व का ज्ञाता निष्काम पुरुष पृथिवी पर स्थित जीवों को आत्ममय देखता है और प्रत्येक जीव अर्थात् जीवों में उसी आत्मा के दर्शन करता है। इन सबमें समानता की दृष्टि रखने से निष्काम पुरुष किसी से द्वेष नहीं करता।[2] अतः पुरुष देह के समस्त कार्य कारण भाव का कर्ता स्वयं को निष्काम रूप में मानता है।

आत्मरूप में परमार्थतत्त्व को जानने वाला पुरुष ज्ञानी कहा जाता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में जीवादि आत्मा को प्राप्त हो गयें सबको आत्मामय देखने वाले ज्ञानी पुरुष को किसी से अविद्यारूपी दुःख और प्रेम नहीं होता,[3] उस आत्मा में इस तरह का कोई विकार नहीं है। यह आत्मा सर्वत्र प्रकाशयुक्त लिङ्गरूपी शरीर एवं नाड़ियों से रहित कभी नष्ट न होने वाला है। अविद्या, अधर्म, पापशून्य, मल, सर्वद्रष्टा सबसे श्रेष्ठरूप में अपने आप कारण है, उसी तत्त्व ने सब कर्म, उनके फल और साध नों को नियमपूर्वक विभक्त किया है।[4] इसका कोई जनक नहीं है, किन्तु इसने प्रत्येक को योग्यतानुसार अपने कार्यों में बाँट रखा है।

इस प्रकार पुरुष को सबके हित ध्यान में रखकर कर्म करने चाहिए, अपने हित के लिए नहीं, निष्काम भाव से किये कार्य पुरुष को उस तत्त्व तक ले जाते हैं जिस अवस्था में वह किसी से ग्लानि नहीं करता, क्योंकि निष्काम पुरुष का यही एक मात्र उद्देश्य होता है।

मृत्युरहित निष्काम उपासना- आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु पुरुष को उपनिषदों में स्पष्ट की गयी उपासनाओं को करना अपेक्षित है। ये उपासनायें उद्गीथ के अन्तर्गत आती है। आत्मतत्त्व को उपलब्ध होने के लिए मृत्यु का अतिक्रमण करने वाली सात प्रकार की साम की उपासना करनी चाहिए, जिनमें हिंकार और प्रस्ताव तीन-तीन अक्षरों वाले समान होने के कारण उपासनीय है।[5] यह उपासना मृत्यु का

1. ईशा० उ०म० 4 अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥
2. ईशा० उ०म० 6 यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।
3. ईशा० उ०म० 7 यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
   तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
4. ईशा० उ०मं० 8 स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
   कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
5. छा०उ० 2.10.1 अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधं सामोपासीत हिङ्कार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्सममृ।

अतिक्रमण करने के लिए हैं। जिसमें ये प्रथम भक्ति के अक्षर हैं। आदि दो प्रतिहार चार अक्षरों वाला है। प्रतिहार से एक अक्षर निकालकर आदि में जोड़ देने से दोनों समान हो जाते हैं।[1] संख्या की पूर्णता आवश्यक है, जिससे तीन-तीन अक्षरों वाले वो लगें।

'उद्गीथ' तीन एवं उपद्रव चार अक्षर वाला है। इनमें तीन अक्षर समान हैं परन्तु एक अक्षर अधिक है। उसकी अक्षर में गणना होने पर वह उन्हीं तीन अक्षरों में माना जायेगा।[2] अतः साम के समत्व हेतु शेष अक्षर भी उनमें सम्मिलित हो जाते हैं। 'निधन' इसमें तीन अक्षर हैं, सब अक्षर बाईस की संख्या में है।[3] इन सभी अक्षरों को निष्काम की दृष्टि से देखने पर मृत्युरहित माना जाता है। इक्कीस अक्षरों को जानने के पश्चात् पुरुष आदित्यलोक को प्राप्त करता है क्योंकि आदित्य संख्या में इक्कीसवां है तथा आदित्य से आगे बाईसवें अक्षर के ज्ञाता कभी दुःख को न देखने वाले शोकरहित उस तत्त्व में लीन होकर लोकों के ऊपर सुखरूप को प्राप्त कर लेते हैं।[4] इस निष्काम उपासना से पुरुष मृत्यु का अविषय बन जाता है।

इस प्रकार पुरुष द्वारा मृत्यु को जीतने के लिए निष्काम होकर उपासनाओं का ज्ञान आवश्यक है। आत्मज्ञान हेतु निष्काम उपासनाएँ एवं इनसे सम्बन्धित कर्म आदित्य की भाँति विजय प्राप्त कराते हैं।

उपनिषदों में निष्काम उपासनाओं की दृष्टि चारों ओर ब्रह्म की सत्यता प्रतीत होती है। पुरुष का शरीर जरावस्था से युक्त होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाए, परन्तु यह आत्मा के समान रहता है। सत्य होने के कारण इस ब्रह्म में अनेक इच्छाएँ निहित है। यह पाप, जरा, मृत्यु, भोग से परे सत्यस्वरूप है। जिस प्रकार राजा प्रजा के ऊपर शासन करता है, वैसे आत्मा सम्पूर्ण लोकों का कारण होने से भी प्राणियों की कामनाओं का पूर्ण करता है।[5]

भाई या अन्य सम्बन्धी मर जाते हैं, कभी इस संसार में उन्हें देखने के लिए नहीं आते।[6] अज्ञान के कारण अमृत से व्याप्त पुरुष को सत्य का ज्ञान नहीं होता।

---

1. छा०उ० 2.10.2 आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत इहैकं तत्सममम्।
2. छा०उ० 2.10.3 उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षर मतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्सममम्।
3. छा०उ० 2.10.4 निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि ह वा एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि।
4. छ०उ० 2.10.5 एकविंशत्यादित्यमाप्नोत्येकविंशो वा इतोऽसावादित्यो द्वावि२शेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम्।
5. छा०उ० 8.1.5 स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य
6. छा०उ० 8.3.1 त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषां सत्यानाꣳ सतामनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते।

सत्य को जानने वाला अपने मृतक पुत्रादि की इच्छा रहते हुए भी प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्व को हृदय के भीतर स्थित जानता है, उन सबको सत्य रूप में देख लेता है। जैसा पृथिवी के अन्दर छिपे सोने के कोश को पुरुष ऊपर चलते हुए नहीं जान सकता, उसी तरह ये सम्पूर्ण प्रजा ब्रह्मलोक जाती हुई ब्रह्म को नहीं जान पाती। अतः यह प्रजा अज्ञान से पूर्णतया व्याप्त पड़ी है।[1] सत्य का ज्ञान रखने वाला पुरुष जीवित अथवा मृतक के प्रति कभी सुख-दुःख प्रकट नहीं करता।

आत्मा सबके हृदय में स्थित रहता है। इसलिए सबका हृदय कहा जाता है जो ज्ञानी पुरुष इसको हृदय में स्थित सत्यरूप से जानता है, उसे स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है।[2] अतः ज्ञान होने पर सत्य की प्रतीति हो पाती है, अज्ञानयुक्त आत्मा सम्पूर्ण लोकों में एक होता हुआ विभिन्न फलादि भेदों को करने वाला सेतु है। दिन और रात में इसकी समानता है। यह जन्म मृत्यु, सुख-दुःख के भावों को प्राप्त नहीं होता, इसीलिए इससे सारे पाप दूर हो जाते हैं, क्योंकि ब्रह्म इन पापादि से रहित है।[3] कर्म से परिपूर्ण होने पर निष्काम आत्मा ब्रह्म है, जो सत्य है।

इस प्रकार निष्काम दृष्टि से अनेक उपासनाओं द्वारा ब्रह्म तक जाने का मार्ग प्रशस्त होता है, जिससे प्रत्येक स्थान पर वह ब्रह्म सत्य है, जिसको पुरुष अज्ञान के कारण पहिचान नहीं पाता।

---

1. छा०उ० 8.3.2 अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथाहि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः॥
2. छा०उ० 8.3.3 स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति।
3. छा०उ० 8.4.1 अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः॥

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 18 (78-84) January-June 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

वेद और उपनिषदों में व्यक्तित्व के प्रकार

-डॉ. अंजू कुमारी
पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वेदों के अनुसार व्यक्तित्व के प्रकार

वेद उस ज्ञान का नाम है जो सृष्टि के आदि में परमपिता परमात्मा द्वारा जीव की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति अर्थात् ऐहिक तथा पारलौकिक सुख कल्याण की प्राप्ति के लिए प्रदान किया गया और प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में प्रदान किया जाता रहेगा। वेद ज्ञान नित्य है। उसके आधार पर आगे ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों की रचना हुई एवं ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में विकास हुआ। क्योंकि वेद ज्ञान परमेश्वर द्वारा प्रदत्त है।[1] अतः स्पष्ट है वेद सर्वज्ञानमय अर्थात् सभी सत्यविद्याओं का भण्डार व आदि मूल है।[2] महर्षि मनु ने कहा है-

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।[3] अर्थात् वेद में सब ज्ञान, विद्याएं वर्णित हैं क्योंकि वेद सर्वज्ञानमय है। इसी कारण मनुष्य के मनोविज्ञान और समाज विज्ञान के मूलभूत शास्त्रीय तथ्यों का जैसा वर्णन वेद में हुआ है अन्यत्र नहीं।

ऋग्वेद में मानव व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कहा है-

समौ चिद्धस्तौ न समं विवष्टिः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीताः।।

10/117/9

अर्थात् देखो हाथ एक जैसे दिखाई देते हैं, परन्तु इनकी क्रिया शक्ति एक समान नहीं है, एक माँ से पैदा होने वाली एक जैसी दो गाएँ एक जैसा दूध नहीं देती, दो जुड़वाँ भाइयों की शक्तियाँ भी एक समान नहीं होतीं तथा एक ही वंश के दो व्यक्ति भी एक समान दान नहीं करते हैं।[4]

---

1. आर्य समाज के नियमों की व्याख्या, पृष्ठ 16, विजय बिहारी लाल माथुर
2. आर्य समाज का दूसरा नियम, महर्षि दयानन्द सरस्वती
3. मनुस्मृति - 2/7
4. कायाकल्प, पृष्ठ 18, बुद्धदेव विद्यालंकार समर्पणानन्द शोध संस्थान, साहिबाबाद (उ.प्र.)

"सभी मनुष्यों में सभी बातें एक समान नही हैं।" वैविध्य का यह सिद्धान्त उन बातों में भी है जिनमें प्राणिमात्र में समान भाव से प्राप्त है जैसे- आहार, निद्रा, भय, मैथुन। परन्तु भोजन, निद्रा आदि भी सबमें समान भाव से नहीं पाए जाते। जहाँ प्रकार भेद नहीं वहाँ मात्रा भेद अवश्य है।[1] इस वैविध्य को वेद में अत्यन्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वर्गीकृत किया है-

ब्राह्मणोंऽस्य मुखंमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोअजायत।।[2] -ऋग्वेद-10/90/12

अर्थात् (अस्य), इस (विराट् पुरुष) का (ब्राह्मणः मुखम् आसीत्) ब्राह्मण = वेद व ईश्वर का ज्ञाता, इनका सेवक व उपासक मुख के तुल्य है। (बाहू) भुजाओं के समान बल पराक्रम युक्त (राजन्यः) क्षत्रिय (कृतः) किया (यत्) जो (ऊरू) जाँघों के सदृश वेगादि से काम करने वाला (तत्) वह (अस्य) इसका (वैश्यः) सर्वत्र प्रवेश करने वाला वैश्य है, (पद्भ्याम्) सेवा और अभिमान रहित होने से (शूद्रः) मूर्खपन आदि गुणों से युक्त शूद्र (अजायत) उत्पन्न हुआ। मन्त्र से तीन बातें स्पष्ट हैं-

(1) मानव समाज चार भागों में विभक्त है।

(2) मनुष्यों में चार प्रकार के गुण, कर्म व स्वभाव होते हैं।[3] जिसे मनुष्य की मूल प्रवृत्ति कहा जाता है।

(3) इस प्रवृत्ति के आधार पर ही मनुष्यों का विभाजन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के रूप में किया गया है।

मनुष्य के व्यक्तित्व का आधार वेद में उसका गुण, कर्म और स्वभाव है। इन्हीं गुण, कर्म व स्वभावों के आधार पर उक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बने।[4]

---

1. कायाकल्प, पृष्ठ 20
2. यह मन्त्र यजुर्वेद - 31/11 और अथर्ववेद - 19/6/6 में भी प्राप्त होता है। अथर्ववेद में 'ऊरू' शब्द के स्थान पर 'मध्यं' शब्द आया है। दोनों शब्द एक ही आशय को प्रकट करते हैं। 'ऊरू' का अर्थ जंघाएँ हैं और मध्य भाग में जंघाएँ और पेट दोनों लिए जा सकते हैं।
3. ये गुण, कर्म और स्वभाव ही मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्धारण करते हैं- मनोशारीरिक तन्त्र, गत्यात्मक संगठन, संगतता वातावरण में अपूर्व समायोजन का निर्धारण।
   द्रष्टव्य- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, पृष्ठ 962-964 डॉ० अरुण कुमार
4. सत्यार्थ प्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, महर्षि दयानन्द।

वर्ण शब्द की व्याख्या में महर्षि यास्क ने कहा, 'वर्णो वृणोतेः'।[1] अर्थात् वरण किया = चुना गया कार्य। किसी भी कार्य को मनुष्य अपने गुणों और स्वभाव के आधार पर ही चुनता है, जो उसके व्यक्तित्व का दर्शन कराते हैं। वेदों के अनुसार-

ब्राह्मण- व्यक्तित्व में सत्य, अहिंसा, तप, ज्ञान, श्रद्धा, दीक्षा, तेजस्विता आदि गुणों अर्थात् शीलगुणों की अधिकता का स्वामी होता है।[2]

क्षत्रिय- इनके व्यक्तित्व में राष्ट्ररक्षा, राजनीति, शूरवीरता, अन्याय के प्रति असहिष्णुता आदि गुण होते हैं।[3]

वैश्य- इनके व्यक्तित्व में व्यापारिक रुचि, ऐश्वर्य प्राप्ति की उत्कण्ठा, अनुशासन व परिश्रम द्वारा धन संग्रह होता है।[4]

शूद्र- ऐसे व्यक्तित्व का स्वामी बौद्धिक कार्यों में अनिपुण परन्तु शारीरिक कार्यों में अतिकुशल, सेवाभावी व परिश्रमी होता है।[5]

वेद में व्यक्तित्व का स्थूल वर्गीकरण 'आर्य' (श्रेष्ठ) आचरण करने वाले और दस्यु (दुष्ट) आचरण करने वाले के रूप में प्राप्त होता है।

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः। ऋग्वेद-1/51/8

ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि आर्य और दास का विभाजन भी गुण-कर्मो के आधार पर था। दस्यु के लक्षण बताते हुए वेद कहता है- 'अकर्मा दस्युः' अर्थात् अकर्मण्य (आलसी, कमजोर व ज्ञान शून्य[6] हो वह दस्यु है। दस्यु के व्यक्तित्व के विषय में वेद कहता है-

न्यक्रतून्रथिनो मृध्रवाचः पणीन् अश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्रप्र तान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापरँ अयज्यून्।।

-ऋग्वेद 7/6/3

अर्थात् (अक्रतून्) परोपकार न करना, (ग्रथिन) झूठ बोलना, (मृध्रवाचः)कठोर व कटु वचन बोलना, (पणीन्) कृपणता, (अश्रद्धान्) हीन भावना वाले विचार युक्त, (अवृधान्) पर उन्नति में बाधा पहुँचाना (अयज्ञान्) नास्तिकता, (अपरान्) अनैतिक

---

1. निरुक्त - 2/3
2. अथर्ववेद - 12/5/1 से 12/5/3 तक
3. अथर्ववेद - 5/17/3 व 7/103/1
4. अथर्ववेद - 3/15/1 व 3/15/2
5. यजुर्वेद - 30/5
6. ऋग्वेद - 10/22/8

कार्यों में मन लगना, (अयज्यून्) स्वार्थ वश ही कार्य करना दस्यु प्रवृत्ति के लक्षण हैं जबकि आर्य शुभ कार्यों में प्रवृत होते हैं।[1]

इस प्रकार वेद में व्यक्तित्व के दो वर्गीकरण हैं। इनमें आर्य और दस्यु के भेदवाला वर्गीकरण विश्व के सभी मनुष्यों के व्यक्तित्व को दो भागों में गुण व कार्यों के आधार पर विभाजित करता है। जिसे आधुनिक मनोविज्ञान में शीलगुण कहा जाता है। इस वर्गीकरण में व्यक्तित्व एक दूसरे के विलोम गुणों, नकारात्मक व सकारात्मक प्रवृत्ति को दर्शाता है। दूसरे वर्गीकरण में वेद सकारात्मक प्रवृति युक्त व्यक्तित्व को फिर से उसके सूक्ष्म व विशिष्ट शीलगुणों के आधार पर वर्गीकृत करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेद में व्यक्तित्व के प्रकारों पर सारगर्भित व सूक्ष्म विचार उपलब्ध हैं। वेद में व्यक्तित्व के छः प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं जिनका आधार गुणकर्म व स्वभाव है।

उपनिषदों के अनुसार व्यक्तित्व के प्रकार

भारतीय चिन्तन में ही नहीं अपितु मानव चिन्तन में भी उपनिषदों का चिन्तन उल्लेखनीय स्थान रखता है। उपनिषद् भारतीयों के आध्यात्मिक चिन्तन के विश्वसनीय स्त्रोत हैं। अत्यधिक आकर्षक, मञ्जुल और सरस शैली से आध्यात्मिक विद्या के गहनतम रहस्यों को हृदयङ्गम कराने वाली संस्कृत साहित्य की अनुपम विधि उपनिषदों ने न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी महती ख्याति अर्जित की है। अनेक लोग इन्हें पढ़ने के लिए ही संस्कृत भाषा सीखते हैं।[2]

मुख्य प्रामाणिक उपनिषदें 11 मानी जाती हैं। यथा ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। इनमें से सर्वाधिक ख्यात 'ईशोपनिषद्' यजुर्वेद की काण्व शाखा का 40वां अध्याय है। इसमें सभी मन्त्र ज्ञानकाण्ड के हैं। विचारने पर निश्चय हुआ है कि यह उपनिषद् शेष सारी उपनिषदों का मूल है। क्योंकि यह वेद के अन्त में है। अतः इसका नाम वेदांत रखा गया और शेष सारी उपनिषदें भी वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध हुईं। इन सबको वेदान्त कहने का एक अन्य कारण भी है, वह यह कि ब्रह्म ज्ञान की अंतिम सीमा है। वेद का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान का अन्त अर्थात् वेदान्त।[3]

हालांकि उपनिषद् 'ब्रह्मज्ञान' का स्त्रोत हैं। उनमें सरल, रोचक शैली, सरल रूपक, सरल उपमाएँ और प्रश्नोत्तर के माध्यम से ब्रह्म सम्बन्धी गूढ़ रहस्यों को

---

1. आर्यां व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि॥ ऋग्वेद - 10/65/11
2. उपनिषद्-दीपिका, भूमिका, पृष्ठ 2, डॉ० रामनाथ वेदालंकार
3. उपनिषद् - प्रकाश, ईशोपनिषद् भाष्यारम्भ, पृष्ठ 3, स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

प्रकट किया गया है। 'ब्रह्म' विषय होने के कारण उपनिषदों में अन्य विषय यथा- आधिभौतिक व आधिदैविक नगण्य अंश में है। अतः उपनिषदों में मनुष्य व्यक्तित्व के भेद विस्तार से प्राप्त नहीं होते। लेकिन उपनिषदों में वेदों के सिद्धान्तों के अनुकूल गुण, कर्म व स्वभाव के अनुसार व्यक्तित्व का विभाजन प्राप्त होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है-

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्।
तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं।[1]

अर्थात् इस रचना (सृष्टि) के प्रारम्भ में ब्रह्म या ब्राह्मण ही अकेला था। वह अकेला होने के कारण समर्थ (लौकिक व्यवहार में) न हुआ तो उसने कल्याणकारी क्षत्रिय धर्म को रचा।

"स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश।"[2] अर्थात् वह फिर भी लोक व्यवहार में समर्थ नहीं हुआ तो फिर उसने वैश्य धर्म को रचा।

"स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं"।[3]

अर्थात् वह फिर भी व्यवहार सिद्धि में कृतकार्य न हो सका तो उसने सबको पोषण करने वाले शौद्र धर्म को रचा।

उपनिषद् के इन विवरणों से स्पष्ट होता है कि मूल रूप में मनुष्य जाति तो एक ही थी परन्तु अपने गुण, कर्म, स्वभाव अर्थात् व्यक्तित्व के अनुसार उनका विभाजन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र किया गया। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्तित्व का यह भेद जन्म सिद्ध नहीं होता और इनमें कोई उत्तम, नीच, पवित्र या अपवित्र नहीं होता। क्योंकि मनुष्यों का यह विभाजन एक ही आचार-विचार वाले मनुष्यों से हुआ है।[4]

जिस प्रकार वेद में मनुष्य व्यक्तित्व का आर्य और अनार्य के रूप में वर्गीकरण प्राप्त होता है। उसी प्रकार उपनिषदों में भी इस प्रकार का वर्गीकरण देव और असुर के रूप में प्राप्त होता है।

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च।[5]

---

1. बृहदा० 1/4/11
2. बृहदा० 1/4/12
3. बृहदा० 1/4/13
4. वर्ण व्यवस्था का वैदिक रूप, पृष्ठ 19-20, लाला ज्ञानचंद आर्य
5. बृहदारण्यकोपनिषद् - 1/3/1

अर्थात् प्रजापति की दो प्रकार की सन्तानें थीं, देव और असुर।[1]

असुर के व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है जो दान नहीं देता, किसी में श्रद्धा नहीं रखता, यज्ञ नहीं करता उसे असुर कहते हैं। देह को आत्मा कहना असुरोपनिषद् है। असुर लोग शरीर को गन्धमाला से सजाते हैं, और समझते हैं कि उन्होंने इस लोक को जीत लिया, और मरने पर शरीर का वस्त्र, अलंकार आदि से संस्कार करते हैं और समझते हैं कि उन्होंने इस प्रकार इस लोक को जीत लिया।[2] उक्त गुणों के विपरीत जो लोग यज्ञ, दान करते है, इस संसार से अधिक सम्पर्क न रखकर ब्रह्म ध्यान में लीन रहते हैं, सब लोक और सब कामनाएँ उनके वश में रहती है।[3] वह मृत्यु को जीतकर उसे आत्मा बना लेता है।[4] वही देवता कहलाता है।

यहाँ शुभ संकल्प से युक्त इन्द्रियाँ 'देव' और अशुभ विचार, कर्म व वाणी युक्त इन्द्रियाँ असुर कही गई हैं। उपनिषदों में 'देवासुर' का अभिप्राय यही है।[5] अतः मनुष्य की नकारात्मक, विध्वसंक मनोवृत्तियाँ असुरत्व की और सकारात्मक, सर्जक मनोवृत्तियाँ देवत्व की परिचायक हैं। जो उसके व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि उपनिषदों में मानवीय व्यक्तित्व देवत्व और असुरत्व के रूप में वर्गीकृत है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम अध्याय के दूसरे ब्राह्मण की कथानुसार प्रजापति की तीन सन्तानों का भी उल्लेख है। यहाँ स्पष्ट रूप से उन तीन सन्तानों का नाम देव-मनुष्य-असुर बताया गया है। कथानक के अनुसार देव-मनुष्य-असुरों ने प्रजापति से उपदेश में 'द' अक्षर का उपदेश प्राप्त किया। तीनों ही अपनी मूल मनोवृत्तियों व अपने व्यक्तित्व की मूलभूत न्यूनताओं-

देवों की न्यूनता	-	इन्द्रियों की लोलुपता
मनुष्यों की न्यूनता	-	अदान का भाव

---

1. वेद में 'असुर' शब्द अत्युत्कृष्ट कार्यों में संलग्न मनुष्य व परमात्मा का वाची है- जबकि ब्राह्मण ग्रन्थों व इतर साहित्य में 'असुर' निकृष्ट कार्यो में रत मनुष्यों के लिए होने लगा अर्थात् अनार्य अर्थ में।
2. 8/7/5 छान्दोग्य
3. 8/12/6 छान्दोग्योपनिषद्
4. 1/2/7 बृहदारण्यकोपनिषद्
5. ईशोपनिषद् का चौथा मंत्र व केन उपनिषद् में भी देव का अर्थ इन्द्रियाँ हैं। इसी प्रकार बृहादारण्यक उपनिषद् के उक्त प्रसंग 1/3 में स्पष्ट रूप से देव-असुर इन्द्रियों की विशिष्टतापूर्ण भिन्न मनोवृत्तियों को दर्शाया गया है।

असुरों की न्यूनता – निर्दयता।

इनको भली-भांति जानने के कारण प्रजापति का आशय समझ जाते हैं। देव 'द' का अर्थ 'दमन' मनुष्य 'दान' और असुर 'दया' के रूप में स्वीकार करते हैं।

इस प्रकरण में मनुष्य की एक और माध्यमिक मनोवृत्ति को व्यक्तित्व के रूप में परिभाषित किया गया है। यहाँ पर देव और असुर के मध्य 'मनुष्य' नामक व्यक्तित्व भी है जो संसार की वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह करता है।

देव-मनुष्य-असुर अथवा देवासुर व्यक्तित्व आधुनिक मनोविज्ञान के शीलगुण का ही औपनिषदिक रूप है। ये प्रत्येक मनुष्य में होते हैं। जिस मनुष्य में जिस मनोवृत्ति की प्रधानता होती है, वह उसी व्यक्तित्व का माना जाता है। इस प्रकार औपनिषदिक व्यक्तित्व आधुनिककाल में काल रोजर्स के सांवृत्तिक सिद्धान्त के नाम से जाना जा सकता है। इसे आत्म सिद्धान्त अथवा व्यक्ति केन्द्रित सिद्धान्त भी कहा जा सकता है।[1]

✦✦✦

1. उच्चतर सामान्य मनोवज्ञिान, पृष्ठ 1094, अरुण कुमार सिंह

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 18 (85-90) January-June 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

महर्षि दयानन्द का वेदप्रामाण्यविषयक मत

-डॉ० देवीसिंह

सहायक प्राध्यापक (संस्कृत)
गोस्वामी गणेशदत्त सनातन धर्म कॉलेज, चण्डीगढ

वेद भारतीय संस्कृति के सर्वस्व हैं। उनमें आज भी ज्ञान एवं विज्ञान के ऐसे तथ्य और रहस्य समाहित हैं जिनकी ओर शताब्दियों से हमारा ध्यान नहीं जा पाया है। वेद एक अध्यात्म-विद्या होने के साथ-साथ उत्कृष्ट कोटि का विज्ञान भी है, क्योंकि ज्ञान और विज्ञान को इनमें इस प्रकार परिभाषित किया गया है-'एकं ज्ञानं ज्ञानम्, विविधं ज्ञानं विज्ञानम्' अर्थात् एक को जानना ज्ञान है तथा एक को आधार मानकर अनेकों को जानना ही विज्ञान है। ज्ञान और विज्ञान दोनों का स्रोत वेद ही है। वेदों का ज्ञान हो जाने पर अन्य सभी विषयों में मनुष्य की गति सहज ही हो जाती है, क्योंकि वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय उनके अध्येता को कैवल्य-प्राप्ति मार्ग पर अग्रसर करना है। 'वेद' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में उपलब्ध होता है। क्रियावाची के रूप में 'वेद' शब्द का अर्थ है-'जानता है' (वेद=वेत्ति=जानाति)।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥[1]

नाम शब्द के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है, जो कहीं अन्तोदात्त, कहीं आद्युदात्त है। अन्तोदात्त का अर्थ है- 'दर्भमुष्टि' और आद्युदात्त का अर्थ है- 'ज्ञान का साधन।[2]

वेद-विमर्श-गोष्ठियों में ऋषि दयानन्द के वक्तव्य

मानव जीवन के उत्थान के लये वेदों को अनेक आचार्यों ने प्रामाणिक स्वीकार किया है। वेद की प्रामाणिकता को दर्शाते हुए कात्यायन श्रौतसूत्र में यह

1. (i) श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, ऋग्वेद 1.164.39 स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी, 1983
(ii) **"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः"**- केनोपनिषद्, 2.11, ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर गोविन्दभवन कार्यालय, कोलकाता, सं० 2064 पृ० 30
2. (i) **"तां वेदेनान्वविन्दन्"**- तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3.3.9.10, आनन्द आश्रम पूना, 1976
(ii) **"पत्नी वेदं प्रमुंचति वेदोऽसीति"**- अल्बैर्त वेबर, कात्यायन श्रौतसूत्र, 3.8.1, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1972

उल्लेख मिलता है- **'फलयुक्तानि कर्माणि'**[1] अर्थात् वेदोक्त सभी कर्म फल-जनक होते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कात्यायन वेदों की प्रामाणिकता पूर्णतया स्वीकार करते थे। इसी तरह से भारतीय इतिहास में एक ऐसे उज्ज्वल व्यक्तित्व के धनी महापुरुष हुए हैं जिन्होंने अपना समस्त जीवन समाज शुश्रूषा में तथा मानव-जीवन के प्रत्येक पहलू को वेदोक्त-प्रमाण के आधार पर बतलाने में लगा दिया। उस महापुरुष का नाम है- **'महर्षि दयानन्द सरस्वती।'**

महर्षि दयानन्द के जीवन में अनेक ऐसे प्रसंग उभर कर सामने आये थे, जिनका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ऋषि दयानन्द वेद को प्रमुख प्रमाण मानते थे। प्रसिद्ध विद्वान् राबसन ने "Hinduism and Christianity" नामक अपनी पुस्तक में स्पष्टतः कहा है- 'वेदों में स्वामी दयानन्द का दृढ़विश्वास था, वे कहते थे- मेरा विश्वास है कि वेदों में एक भी भ्रान्तिमूलक बात नहीं है'।[2] सन् 1867 में हरिद्वार में उन्होंने गोसाई लोगों से कहा था- 'हम तो सत्य के पक्षपाती हैं और जो वेद में लिखा है उसके अनुयायी हैं।[3] जब महर्षि दयानन्द का वाराणसी (काशी) में पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ हुआ तो विद्वानों ने उनसे प्रश्न किया कि आप कितने ग्रंथों को प्रामाणिक मानते हैं? स्वामी जी ने उत्तर दिया- 'मैं चार वेद, चार उपवेद, छः वेदांग, छः उपांग और मनुस्मृति इन इक्कीस ग्रन्थों को प्रामाणिक मानता हूँ'।[4] सन् 1873 में पटना में एक विचार गोष्ठी में स्वामी जी ने एक वेद मन्त्र का उच्चारण किया, इस पर किसी जिज्ञासु ने प्रश्न किया कि आप सभी बातें वेद के आधार पर सिद्ध करते हैं तो स्वयं वेद का क्या प्रमाण है? ऋषि दयानन्द इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं- 'वेद स्वतः प्रमाण हैं, जैसे सूर्य का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये उसे दीपक दिखाने की आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार वेद को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती'।[5] रावलपिंडी में 1877 में स्वामी जी ने कहा था- 'जो ईश्वरोक्त सत् विद्याओं से युक्त ऋक्, यजु, साम, अथर्व ये चार पुस्तक हैं और जिनसे मनुष्य को सत्य का ज्ञान होता है उनको वेद कहते हैं'।[6]

---

1. का.श्रौ.सू., 1.1.2
2. घासीराम, 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित, भाग 1, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, वि. 2018, पृ०124
3. वही, पृ०136
4. स्वामी सत्यानन्द, श्रीमद्दयानन्दप्रकाश, गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली, 1973, पृ० 162
5. घासीराम, 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित, भाग 1, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, वि. 2018, पृ० 277
6. वही, भाग-2, पृ० 80

अप्रामाणिक मतों का खण्डन

वेदों के अप्रामाण्य को चार्वाक, बौद्ध और जैन इन तीन दर्शनों ने माना है। जिससे इन तीनों को अवैदिक दार्शनिक-सम्प्रदाय कहा जाने लगा। इन तीनों ने वेद की प्रामाणिकता का विरोध किया है। इस विषय में ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिन बुराईयों का विरोध ये अवैदिक दर्शन (चार्वाक, बौद्ध, जैन) करते हैं वे बुराईयाँ वेद-प्रतिपादित नहीं थीं, बल्कि वेद के टीकाकारों ने वेद में दिखलाई थीं।[1] ऋषि जी लिखते हैं- 'वाममार्गियों ने मिथ्या कपोल-कल्पना करके वेदों के नाम से अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये (मद्यपान, मांस-भक्षण, परस्त्रीगमन इत्यादि दुष्ट प्रवृत्ति का) जो वेदों को कलंक लगाया, उन्हीं बातों को देखकर चार्वाक, बौद्ध और जैन लोग वेदों की निन्दा करने लगे और पृथक् एक वेदविरुद्ध अनीश्वरवादी अर्थात् नास्तिक मत चला दिया।[2] ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में स्वामी जी ने स्पष्टतः कहा है कि रावण, उव्वट, सायण और महीधर के अर्थ वेद-विरुद्ध हैं, उनका अनुसरण करने वाले भारतीय विद्वानों के वेद विषयक व्याख्यान भी अनर्थों से भरे पड़े हैं।[3] सायणाचार्य द्वारा किये गए वेद-भाष्य पर प्रतिक्रिया करते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं-

"यत् सायणाचार्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डपराः सन्ति इत्युक्तम्, तदन्यथाऽस्ति। कुतः? तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्।"

अर्थात् जो सायणाचार्य ने वेदों के परमार्थ को न जानकर यह कहा है कि सब वेद क्रियाकाण्डपरक हैं, यह मिथ्या है, क्योंकि वेद तो सब विद्याओं से युक्त हैं। वे कहते हैं-

वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णाः सन्ति,
नैव किंचित् तेषु मिथ्यात्वमस्ति।[4]

अर्थात् वेद तो सब विद्याओं में पूर्ण हैं, उनमें कुछ भी मिथ्या नहीं है। वेदों की प्रामाणिकता के लिये उनके ऐसे अर्थ होने चाहिये जो सामान्यजन के लिये कल्याणकारी हों, बुद्धि संगत हो और शास्त्र सम्मत भी हों।[5]

---

1. श्रीनिवास शास्त्री, वेद-प्रामाण्य-मीमांसा तथा ऋषि दयानन्द, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा), 1980-81, पृ० 339
2. ऋषि दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश, समु०12, गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली, 1963, पृ० 617-618
3. ऋषि दयानन्द, ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका, रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर, 1967 पृ० 364
4. वही, पृ० 364-381
5. ऋषि दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश, समु०3, गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली, 1963, पृ० 80

प्रामाणिक मत (स्वतः प्रामाण्य)

प्रामाण्य का अर्थ है- प्रामाणिकता या यथार्थता। ज्ञानों की यथार्थता एवं अयथार्थता का विचार प्रामाण्यवाद के नाम से जाना जाता है। इसे 'प्रामाण्य-मीमांसा' भी कहते हैं। स्वामी दयानन्द ने वेदों की प्रामाणिकता को प्रतिपादित करते हुए वैदिक दर्शनों के वेद-प्रामाण्य-विषयक सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है। इनमें से न्याय, वैशेषिक और योग इन तीनों दर्शनों के अनुसार वेद ईश्वरोक्त होने से ही प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि आप्त व्यक्ति का वचन प्रमाण होता है और वेद भी परमाप्त ईश्वर के वचन होने के कारण प्रमाण हैं। पूर्वमीमांसा दर्शन में वेद का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार किया गया है।[1] इनके अनुसार वेद अपौरुषेय हैं और समस्त दोषों से रहित हैं तथा स्वतः प्रमाण हैं। कुमारिल भट्ट ने वेद की प्रामाणिकता की सिद्धि में कहा है-

चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः।
कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिङ्गाप्तोक्त्यक्षबुद्धिवत्॥[2]

अर्थात् वेद-प्रतिपादित ज्ञान प्रमाण है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह दोष-रहित कारणों से उत्पन्न होता है (हेतु), अनुमान, आप्तवचन एवं प्रत्यक्ष से उत्पन्न ज्ञानवत् (उदाहरण)।

तथाऽनाप्ताप्रणीतोक्तिजन्यत्वाद् बाधवर्जनात्।
देशकालादिभेदेन चाप्तोक्तिप्रत्ययो यथा॥[3]

अर्थात् वेद-प्रतिपादित ज्ञान प्रमाण है (प्रतिज्ञा), क्योंकि उससे देश, कालादि के भेद से भी बाध नहीं होता (हेतु), आप्तवचन से होने वाले ज्ञान के समान (उदाहरण)। वेदान्त दर्शन की पंचपादिका में कहा गया है-

अपौरुषेयशब्द चक्षुषीव विज्ञानोत्पन्नावनपेक्षे कथमप्रामाण्यमाशत।[4]

अर्थात् इसी प्रकार चक्षु अपने ज्ञान की उत्पति में किसी की अपेक्षा नहीं रखती उसी प्रकार अपौरुषेय शब्द भी ज्ञानोत्पत्ति में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता, अतः वह अप्रमाण कैसे हो सकता है? इस प्रकार मीमांसा और वेदान्त के अनुसार सांख्य भी वेद को स्वतः प्रमाण मानता है-

---

1. **"तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्"** -जैमिनि, मीमांसा सूत्र, 1.1.5, आनन्द आश्रम मुद्रणालय, पूना, 1953
2. कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्त्तिक, 1.1.2.184, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी,1978
3. वही, 1.1.2.185
4. पदमाचार्य, पंचपादिका, मद्रास गवर्नमेंट ओरिएंटल सीरीज, 1958, पृ० 326

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त दर्शनों के मतानुसार भी वेद स्वतः प्रमाण है।

ऋषि दयानन्दसम्मत वेदों का स्वतः प्रामाण्य

स्वामी दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में प्रामाण्यत्व और अप्रमाण्यत्व से अभिप्राय है-**"ये स्वतः प्रमाण भूता मन्त्रभागसंहितायाश्चत्वारो वेदा उक्ताः।"**[2]

अर्थात् मन्त्र संहिता नामक चार वेद स्वतः प्रमाणभूत हैं। वेदों के स्वतः प्रामाण्य का अर्थ बतलाते हुए वे कहते हैं- 'वे स्वयं प्रमाणरूप हैं जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं होती, जैसे सूर्य या प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक हैं और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक हैं, उसी प्रकार वेद भी स्वतः प्रमाण हैं'।[3] उनकी प्रामाणिकता की सिद्धि में अन्य प्रमाण का ग्रहण नहीं किया जाता है। *ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका* में ऋषि दयानन्द कहते हैं-

तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः
सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति।।[4]

अर्थात् वेद स्वयं प्रकाश है, उनके प्रकाश के लिये अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है और इसके साथ-साथ वे अन्य सभी विद्याओं के भी प्रकाशक हैं। ऋषि दयानन्द के मतानुसार वेद ईश्वरोक्त होने के साथ नित्य और निर्भ्रान्त भी हैं, इसीलिये वे स्वतः प्रमाण हैं-

अतः ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद् वेदानां स्वतः प्रामाण्यम्।[5]

तात्पर्य यह है कि वेदों के स्वतः प्रामाण्य में दो हेतु हुए एक तो उनका ईश्वरोक्त होना और दूसरा नित्य होना। स्वामी दयानन्द इसी बात को और परिष्कृत और परिमार्जित शब्दावली में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ हैं उन्हें स्वतः प्रमाण मानना चाहिये और जो जीवोक्त ग्रन्थ हैं वे परतः प्रामाण्य के योग्य हैं। इस प्रकार ईश्वरोक्त होने से चारों वेद स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि ईश्वर की वाणी में भ्रम आदि दोष उत्पन्न नहीं हो सकते, वह तो सर्वज्ञ, सर्वविद्यायुक्त एवं

---

1. कपिल मुनि, सांख्यसूत्र, 5.51, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1977
2. ऋषि दयानन्द, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर, 1967, पृ० 311
3. ऋषि दयानन्द, स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश (सत्यार्थ प्रकाश), भाग 2, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, 1972
4. ऋषि दयानन्द, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर, 1967, पृ० 311
5. वही, वेदनित्यत्व, पृ० 39

सर्वशक्तिमान् है।[1] इस प्रकार स्वामी दयानन्द के विचार में वेद स्वतः प्रमाण हैं।

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि स्वामी जी ने सत्य की परीक्षा के लिये जो कसौटी प्रस्तुत की है, यदि वेद के अर्थ उस कसौटी पर सम्यक्तया घटित होते हैं तो वे सत्य विद्या के प्रकाशक और प्रामाणिक हैं। स्वामी जी ने ईश्वर अनुग्रह से ही वेदभाष्य करते हुए लिखा है कि आर्यों और ऋषिमुनियों की जो सनातन व्याख्या-पद्धति है, उसका आश्रय लेकर ही मेरे द्वारा मन्त्रों के अर्थ किये जायेंगे-

मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः।
ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते॥

आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा॥[2]

इससे विदित होता है कि स्वामी जी के सम्मुख वेद-सम्बन्धी अनेक विचार थे, इनमें एक तरफ भारतीय साहित्यिक वाङ्मय की परम्परा उपस्थित थी, जिसमें वेदों का अप्रामाण्य परतः प्रामाण्य और स्वतः प्रामाण्य आदि अपनी-अपनी रीति से स्वीकार किया गया था और दूसरी तरफ आधुनिक युग के विचार भी थे। उनके लिये यह असमंजस की स्थिति बनी हुई थी कि किन ग्रन्थों को प्रामाणिक माना जाये और क्यों? इस शंका का निवारण उन्होंने वेद को स्वतः प्रमाण मानकर किया, क्योंकि स्वतः प्रामाण्य के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती और वेदों की प्रामाणिकता में भी सूर्य और दीपक के स्वतः प्रामाण्य के समान अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अतः महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों को स्वतः प्रामाण्य मानकर उनका जो अर्थ किया अथवा उन पर जो भाष्य लिखा उससे आधुनिक समाज को एक नवीन मार्गदर्शन मिला है।

✦✦✦

1. वही, पृ० 311
2. वही, पृ० 1

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 18 (91-104) January-June 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

उपनिषदों में वर्णित ईश्वर का स्वरूप

-स्वामी परमार्थदेव

पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार

परमपिता परमेश्वर ने सम्पूर्ण संसार को बनाया है, जो भी जड़ चेतन के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है उनको परमात्मा ही अपनी शक्ति से धारण किये हुए हैं। परमात्मा के सच्चे स्वरूप को जानने की जिज्ञासा होनी चाहिए। इसके विषय में उपनिषदों का स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि ईश्वर के सच्चे स्वरूप का वर्णन उपनिषदों में बहुत ही स्पष्टता से दिया गया है। अध्यात्म को जानने और मानने वाले सभी आस्तिक मत ईश्वर की सत्ता को मानते हैं परन्तु सब ईश्वर के स्वरूप और उसके गुण, कर्म व स्वभाव को लेकर एक मत नहीं हैं। यदि एक मत होते तो आज संसार में अलग-2 मत, पंथ, सम्प्रदाय नहीं बनते। वेदों और उपनिषदों में ईश्वर का जो स्वरूप मिलता है वह पूर्णतयः तर्क एवं युक्तिसंगत है, जिसकी साक्षी मनुष्य की आत्मा भी है। जिस व्यक्ति ने मनुष्य जीवन में ईश्वर के सत्यस्वरूप को जानने का प्रयत्न नहीं किया, उस मनुष्य का जन्म लेना निरर्थक कहा जा सकता है। ऐसे मनुष्य ने अपने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के पावन उद्देश्य को भूलकर मानों मनुष्य जन्म के विपरीत भौतिकता एवं इन्द्रिय सुख भोग में जीवन व्यतीत कर अपने पशुवत् जीवन को जिया है।

मनुष्य जीवन की सार्थकता के लिए उचित है कि वह ईश्वर जीव और प्रकृति के सच्चे स्वरूप को जानें। ईश्वर के सच्चे स्वरूप के दिग्दर्शन हेतु उपनिषदों के कुछ प्रमाण प्रस्तुत हैं। ईशोपनिषद् का पहला मन्त्र ही ईश्वर के स्वरूप का बोध करा रहा है:-

1. **ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।**
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।। (ईशोपनिषद् 1)

अर्थात् निरन्तर गतिशील विशाल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी हमारा संसार, पृथिवी-मण्डल है यह सब शक्तिशाली प्रभु के द्वारा बसने योग्य, बसाने योग्य, आच्छादन करने योग्य, प्रकाशित करने योग्य, थामने योग्य और सुरभित करने योग्य है, इसलिए इस संसार को त्यागभाव से भोगो अथवा प्रभु द्वारा प्रदत्त इस संसार के

पदार्थों का त्यागपूर्वक उपभोग करो। लोभ और लालच मत करो यह धन भला किसका है? अथवा यह धन तो 'कः' प्रजापति का है, अतः त्यागपूर्वक इसका उपभोग करो।

इस मन्त्र का प्रथम उपदेश ईश्वर के स्वरूप को स्पष्ट कर रहा है, अर्थात् सर्वव्यापक ईश्वर इस ब्रह्मांड की प्रत्येक वस्तु और स्थान में ओत प्रोत है। कण-कण में उसकी विद्यमानता है। ईशोपनिषद् का चौथा मन्त्र भी ईश्वर की विशेषता का वर्णन कर रहा है।

2. अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनदेवाऽआप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।

(ईशोपनिषद् 4)

अर्थात् वह सर्वव्यापक परमात्मा गति और कम्पन से रहित है, वह अचल, स्थिर और गतिशून्य है। वह एक है और अद्वितीय है। वह मन से भी अधिक वेगवान् है। इस प्रभु को देवगण-इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर पाते, क्योंकि वह प्रभु तो पहले से ही पहुँचा हुआ है, गन्तव्य स्थान पर विराजमान है। वह परमात्मा ठहरा हुआ भी दौड़ते हुए दूसरों को लाँघ जाता है। उसी परमात्मा के आश्रय से वायु जलों को और जीव कर्मों को धारण करता है।

मन आदि इन्द्रियों से परमात्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन्द्रियां परिछिन्न हैं, भौतिक हैं, सीमित शक्ति वाली हैं। ईश्वर अपरिछिन्न, सर्वव्यापक, अभौतिक और सर्वशक्तिमान् है। पुनः अगले मन्त्र में ईश्वर की महत्ता का प्रतिपादन किया है:-

3. तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।। (ईशोपनिषद् 5)

अर्थात् वह सर्वव्यापक परमात्मा कम्पन करता है वह गति नहीं करता, वह स्थिर एवं कूटस्थ है। वह परमात्मा बहुत दूर है और सचमुच वह अत्यन्त समीप है। वह इस सारे ब्रह्माण्ड के अन्दर विराजमान है और वह इस सारे विश्व के बाहर भी है।

वह परमात्मा सब को एजयति गति देता है परन्तु वह स्वयं गति नहीं करता, अर्थात् स्वयं सर्वव्यापक होने से चलता नहीं परन्तु सबको चलाता है, वह दूर भी है और निकट से भी निकट है, वह संसार के अन्दर भी है बाहर भी है।

4. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।। (ईशोपनिषद् 8)

अर्थात् वह परमात्मा सर्वव्यापक है शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान् स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर से रहित है, घाव, छिद्र तथा नस-नाड़ी के बन्धन से रहित है। परम पवित्र है, निष्पाप है, वह शुभ, अशुभ कर्मों से रहित है क्योंकि शुभ, अशुभ कर्म शरीरधारी ही करता है। वह कवि है, क्रान्तदर्शी, विद्वान् है, वह सबके मनों को गति देनेवाला है, मन की वृत्तियों को जाननेवाला है, सर्वज्ञ एवं सर्वान्तर्यामी है। दुष्ट और पापियों का पराभव करनेवाला है स्वयं सिद्ध, अपनी सत्ता से स्वयं देदीप्यमान्, अपने-आप होने वाला अनादि है। वह अपनी शाश्वत् प्रजाओं-जीवों के लिए अनादिकाल से पदार्थों को यथार्थरूप में, जो पदार्थ जैसे होने चाहिएँ, उसी रूप में निर्मित करता है, व्यवस्थित करता है।

केनोपनिषद् के प्रथम खण्ड के दूसरे श्लोक में उस परमात्मा की शक्ति से इन्द्रियों के सामर्थ्य का वर्णन किया है:-

5. **श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मनो,**
यद्वाचो ह वाचं, स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषः चक्षुः, अतिमुच्य धीरा :,
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ (केनोपनिषद् 1/2)

अर्थात् जिसकी शक्ति से ये कान सुनते हैं, वह कानों का भी कान है, जिसकी शक्ति से यह मन चिन्तन - मनन करता है, वह मन से अति सूक्ष्म है। जिसकी शक्ति से यह वाणी बोलती है, इसलिये वह वाणी का भी वाणी = सूक्ष्म है। और वह प्राणों का आधारभूत होने से प्राणों का भी प्राणदाता है। चक्षुओं में देखने की शक्ति देने वाला होने से चक्षु का भी चक्षु = सर्वद्रष्टा है। इस प्रकार उस ईश्वर को धीर पुरुष जानने के पश्चात् इन साधन भूत भौतिक इन्द्रियों के ही पालन, पोषण, सजावट और इनके विषयों में ही रमण न करते हुए, इनका परित्याग करके ईश चिन्तन में लग जाते हैं वे इस मृत्युलोक से मरने पर मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

उस सर्व प्रेरक ईश्वर को जानने के लिए कठोपनिषद् में और कहा है।

6. **अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।**
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च, यत्तत्पश्यति तद्वद॥ (कठोपनिषद् 2/14)

अर्थात् हे नचिकेता! जो ब्रह्म इस धर्म-अधर्म से सर्वथा रहित है, और उसके लिये सांसारिक जीवों के समान शुभाशुभ कर्म करने, व न करने और न ही इनके सुख-दुःख रूप फल भोगने वाला है, यह सब प्रपञ्च सांसारिक जीवों के साथ ही

लगा हुआ है। और जो भूत, भविष्यत्, और वर्तमान इन तीनों कालों से भी सम्बन्धित नहीं है।

इसलिये जो मनुष्य उस ब्रह्म को उपरोक्त गुण वाला जानता है, वही उसे प्राप्त करता है, अन्य नहीं, उसी को कहा है जैसा ब्रह्म का स्वरूप और उसके प्राप्ति के साधन वेद शास्त्रों में वर्णित किये हैं, वैसा ही अन्यों को उपदेश करना।

7. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(कठोपनिषद् 2/15)

अर्थात् हे नचिकेता! जिस उक्तगुण वाले ब्रह्म को मैंने आपको उपदेश किया है उसका स्वरूप ऋग्वेद, यजुर्वेदादि, चारों वेदों में, शास्त्रों में भी ऐसा ही हम को उपलब्ध हुआ है, ऐसा ही वर्णन किया है। जिसकी प्राप्ति के लिये योगीजन द्वंद्वों को सहते हुए तप और समाधि में निरंतर रत रहते हैं, ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य व्रत का अखण्डित पालन करते हैं। इस सर्वव्यापक जगन्नियन्ता ब्रह्म का अपना निज (मुख्य) नाम 'ओ३म्' है। जिसका अर्थ है रक्षा करने वाला, सृष्टि का निर्माता, संहरता और जीवों के कर्मानुसार भोग-योनि प्रदाता और अपने भक्तों को मुक्ति सुख से युक्त करने हारा। 'अ' का अर्थ व्यापक, जैसे 'अ' सभी व्यंजनों में व्याप्त रहता है। स्वर के बिना व्यंजन अधूरे तथा लंगड़े होते हैं। ऐसे ही ईश्वर के बिना यह सारा जगत् निष्प्राण हो जाता है। 'उ' का अर्थ है उत्पादक, सृष्टि का उत्पन्न करने हारा और पालक और 'म' का अर्थ है मारना सृष्टि का संहार करना। 'अ' का अर्थ है ज्ञान, 'उ' का कर्म ओर 'म' का अहंभाव छोड़कर उपासना करना। इस प्रकार 'ओ३म्' शब्द बहुत गूढ़ार्थ वाला और अद्वितीय नाम वाला है। इसी को अनेक ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि नामों से पुकारा है। इसी के जाप और ध्यान से मोक्ष प्राप्त होता है। हे नचिकेता! ऐसा तू निश्चय से जान।

8. अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको, धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥

(कठोपनिषद् 2/20)

अर्थात् हे नचिकेता! वह ब्रह्म अतिसूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान् से भी महान् है। उसके बराबर बल विद्यादि में कोई नहीं, वह सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वनियन्ता है।

जो दुष्कर्मी नहीं है, ईशोपासक है, जिसके मन के राग-द्वेष, मल और आवरण नष्ट हो गये हैं जिसके ऊपर उस जगद् धारक परमात्मा की कृपा हो जाती

है और शरीर की धातु = इन्द्रियां बाह्य विषयों से हट कर आभ्यान्तरमुखी हो गई हैं। वही उसको प्राप्त कर सकता है।

9. यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि॥ (कठोपनिषद् 3/2)

अर्थात् यमाचार्य कहते हैं कि हे नचिकेता जो अविनाशी परब्रह्म परमात्मा है वह यज्ञ-याग वेदोक्त शुभ कर्म करने वालों का सेतु है। अर्थात् जैसे किसी नदी को पार करने के लिये पुल होता है जिसके द्वारा सरलता से नदी के पार हो जाते हैं, वैसे ही यज्ञ-याग और उपासना करने वालों का परम दयालु परमात्मा उन्हें भवसागर से पार कर देता है, वे आवागमन रूप दुःखसागर से तर जाते हैं। और जो भी इस भवसागर से तरने की इच्छा रखते हैं, वे भी उक्त कर्मों को करके अभयपूर्वक सुख से पार हो सकते हैं। हम और आप भी हो सकते हैं। इसमें किसी के साथ कैसा भी पक्षपात नहीं होता, क्योंकि ईश्वर तो निष्पक्षपाती, कर्मानुसार फल देता है।

परमपिता परमेश्वर की सर्वव्यापकता को दर्शाते हुए आचार्य नचिकेता को बताते हैं कि-

10. एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्म्या सूक्ष्मदर्शिभिः॥

11. यच्छेदवाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छांत आत्मनि।

(कठोपनिषद् 3/12-13)

अर्थात् हे नचिकेता! यात्री की यात्रा ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये ही है। परन्तु वह तो कहीं दूर नहीं है वह तो समस्त संसार के कण-कण में व्याप्त है, पर अति सूक्ष्म, निराकार होने के कारण इन भौतिक आंख आदि इन्द्रियों से दिखलाई नहीं देता, क्योंकि ये परिच्छिन्न और एकदेशी हैं, रूपवान् पदार्थ को ही देख सकती हैं, अरूपवान् को नहीं। वह ब्रह्म सूक्ष्मदर्शियों योगियों के द्वारा सूक्ष्म-तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा ही जाना जा सकता है और समाधि द्वारा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है।।11।।

उसके साक्षात्कार का विधान यह है कि जो बुद्धिमान् उसे प्राप्त करना चाहता है तो सर्वप्रथम वह वाणी आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर आभ्यन्तर विषयी करके मन में लगावे, मन को आत्मा में और आत्मा को उस महान् परमात्मा में नियोजित करे। क्योंकि जब तक परमात्मा में आत्मा को, आत्मा में मन, बुद्धि को और मन में ज्ञान और कर्मेन्द्रियों को नहीं लगाया जायेगा तब तक समाधि की अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। बिना समाधि अवस्था के उस ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता,

जब तक ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, तब तक आवागमन रूप महादुःख से छुटकारा नहीं हो सकता। वह सर्वत्र विद्यमान है और ईश्वर प्रणिधान से अर्थात् योग के आठ अंगों के अनुष्ठान से ही प्राप्त हो सकता है।

पुनः कठोपनिषद् के अन्तिम तृतीय वल्ली के श्लोकों द्वारा ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हैं-

12. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं, तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं, निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

(कठोपनिषद् 3/15)

अर्थात् हे नचिकेता! वह ब्रह्म इतना सूक्ष्म है कि जिस सूक्ष्म आकाश का गुण शब्द है, उससे भी बतलाया नहीं जा सकता, न वायु के स्पर्श से छू सकता है, न नासिका के गन्ध के समान ग्रहण किया जा सकता है, न अग्नि के समान रूप वाला है, जिसे आंखों से देखा जा सकता है। अर्थात् इन सबसे भी सूक्ष्म है। वह अनादि, अनन्त और सबसे महान् है और सदा एकरस रहने वाला ध्रुव है। इस प्रकार के विशेष को जो जान लेता है, वही मृत्यु के मुख से बच जाता है। क्योंकि अविद्या के कारण प्रकृति और शरीर के धर्मों को अपना समझने वाला कि मैं शरीर हूँ, वही मृत्यु के मुख में जाता है। अर्थात् उसी का विनाश होता है, और जो आत्मा के अजर-अमर आदि स्वभाव को जानता है वह मृत्यु से नहीं डर सकता।

13. येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते॥ एतद्वैतत्॥

(कठोपनिषद् 4/3)

अर्थात् हे नचिकेता! इस ब्रह्माण्ड में दो चेतन महत्त्वशाली शक्तियां हैं, एक तो परब्रह्म परमात्मा जो इस जगत् का धारक है, और एक जीवात्मा जो इस शरीर का स्वामी है, जिसकी शक्ति से ही आंख रूप देखती है, जिह्वा रसास्वाद लेती है, नासिका गन्ध ग्रहण कर रही है, कान शब्द सुनते हैं, और त्वचा स्पर्श का अनुभव करती है। जब वह जीवात्मा इस शरीर से निकल जाता है, तब कोई भी इन्द्रिय कुछ भी ग्रहण नहीं कर पाती। शरीर अग्नि में भस्म हो जाता है। जीवात्मा ही तब शेष रहता है। यही आपका तृतीय प्रश्न था यह मैंने आपको बतला दिया कि जीवात्मा ही सदा रहता है शरीर नहीं, क्योंकि यह कारण वाला है, कार्य कभी नित्य नहीं हो सकता। जीवात्मा और परमात्मा और कारण प्रकृति ये तीनों अकारण वाले हैं, किसी के कार्य नहीं, इसीलिये ये नित्य हैं, शेष रहते हैं, और सदा रहते हैं, इसी कारण इन तीनों को ही अनादि कहा है। इन तीन से भिन्न कोई नित्य और अनादि स्थाई

नहीं है, इस रहस्य को जिस ने जान लिया वही ज्ञानी है, अमृतगामी है। संसार के अस्थाई विषयों में लिप्त मनुष्य न ज्ञानी हो सकता है और न अमृत को प्राप्त कर सकता है।

14. अरण्येर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिवे ईड्यो जागृवखिर्हविष्मखिर्मनुष्येभिरग्निः॥ एतद्वैतत्॥

(कठोपनिषद् 4/8)

अर्थात् हे नचिकेता! वह जातवेदा अग्नि जो सारे संसार में व्याप्त है वह वैसे ही प्रकट होती है जैसे दो अरणियों के परस्पर के रगड़ने से उनमें निहित अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। वे संसार रूप गर्भ में इसी प्रकार सुरक्षित है जैसे माता के गर्भ में बच्चा रहता है। उसको वही प्राप्त = प्रज्वलित कर सकते हैं, जो प्रतिदिन प्रातः-सायं कम से कम दो घण्टे स्तुति, उपासनादि करते हैं, जो जागरूक हैं, आलसी-प्रमादी और विषयी नहीं हैं और जो दोनों समय अग्निहोत्र करते हैं, ऐसे ही सुकर्मी ईशोपासक मनुष्यों के द्वारा वह ब्रह्मरूप अग्नि प्राप्त होती है।

15. यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन॥ एतद्वैतत्॥

(कठोपनिषद् 4/9)

अर्थात् हे नचिकेता! जिस सर्वशक्तिमान् ईश की शक्ति से, उसकी सुव्यवस्था से सूर्य समय पर उदय होता है, और समय पर ही प्रतिदिन अस्त होता है, एक मिनट का भी अन्तर नहीं होने देता है, और न केवल सूर्य अपितु सभी ग्रह, उपग्रह रूप देवता उसी ब्रह्म की शक्ति से कार्य कर रहे हैं उसकी इस सुव्यवस्था को कोई तोड़ नहीं सकता। जैसे अग्नि का ऊर्ध्वगमन, वायु का तिर्यक् गमन, जल का अधोगमन, आंख से देखना, कान से सुनना, मुख से खाना, नासिका से गंध ग्रहण करना आदि दुनिया में किसी की शक्ति नहीं जो अग्नि को अधोगमन, वायु का ऊर्ध्वगमन, मुख से न खाकर कान से खाना, आंख से न देखकर जिह्वा से देखना आदि विपरीत नहीं कर सकता वह सर्वशक्तिदाता ब्रह्म ही है। जो इस सारे ब्रह्माण्ड को सुव्यवस्था में रखे हुए हैं।

16. अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूत भव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ एतद्वैतत्॥

(कठोपनिषद् 4/12)

अर्थात् शरीरस्थ हृदय स्थान में अगुष्ठमात्र का रिक्त स्थान है, जहां जीवात्मा का निवास है, उसमें ईश्वर रहता है, अर्थात् ज्ञानी, मुमुक्षु लोग समाधि समय में

हृदयचक्र में मन आदि इन्द्रियों को समाहित करके ईशचिन्तन करते हैं तब उस प्रभु के दर्शन उसके आनन्द का अनुभव करते हैं।

17. अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाऽद्य स उ श्वः॥ एतद्वैतत्॥

(कठोपनिषद् 4/13)

अर्थात् हे नचिकेता! जो मनुष्य उस ज्योतिस्वरूप ब्रह्म को थोड़ा सा भी जान लेता है, क्योंकि पूर्ण तो यह मनुष्य समझ ही नहीं सकता, क्योंकि यह अल्पज्ञ, सीमित शक्ति वाला है। जो ब्रह्म इस भूत और भविष्यत् आदि कालों का स्वामी है, अर्थात् जो संसार में पदार्थ पूर्व हो चुके हैं, उनका भी और जो हैं, और होंगे उनका भी एकमात्र नित्य चेतन ब्रह्म ही स्वामी है। उसकी आज्ञा को, नियम को बड़े से बड़ा चक्रवर्ती राजा भी नहीं तोड़ सकता। साधारण की तो बात ही क्या है। मौत से बच नहीं सकते, वही बच सकता है, जो उसकी उपासना करके उसे पा लेता है। ऐसा वह ब्रह्म है।

18. य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाऽश्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वैतत्॥

(कठोपनिषद् 5/8)

अर्थात् हे नचिकेता! अब तू ब्रह्म के सम्बन्ध में और सुन जो यह ब्रह्म सभी प्राणियों के सोने के पश्चात् भी जागता रहता है, अर्थात् जो कभी नहीं सोता, सभी जीवों के कर्मानुसार भोग योनि प्राप्त कराता है, और सृष्टि के सभी पदार्थों का सृजन जैसा होना चाहिए ठीक वैसा ही करता है, जिसके वेदरूपी ज्ञान में और सृष्टि रचना में किञ्चित् भी न्यूनता नहीं है। वही शक्तिशाली ब्रह्म शुक्र है, अमृत है, और समस्त लोक-लोकान्तर उसी के आश्रित हैं। उसी की व्यवस्था से व्यवस्थित होकर अपनी-अपनी परिधि में घूम रहे हैं। किसी की भी यह शक्ति नहीं जो उसकी इस व्यवस्था को तोड़ सके। वह ब्रह्म इतना शक्तिमान् है।

19. अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

(कठोपनिषद् 5/9)

20. वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपोबभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

(कठोपनिषद् 5/10)

21. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

(कठोपनिषद् 5/11)

अर्थात् जिस प्रकार एक ही अग्नि और हवा सारे संसार के पदार्थों में प्रविष्ट है अर्थात् अग्नि, जल, वायु, आदि पञ्चभूत सभी पदार्थों में न्यूनत्व अथवा अधिकत्व की दृष्टि से विद्यमान होते हैं, प्रत्येक पदार्थों में उनको देख सकते हैं, इसी प्रकार वह परमात्मा भी सभी संसार के पदार्थों में विद्यमान है।

जैसे सूर्य भी सम्पूर्ण लोक का पथ प्रदर्शक होता हुआ इन दृश्यमान बाह्य पदार्थों से प्रभावित नहीं होता है, वैसे ही वह एक सर्वव्यापक ब्रह्म भी संसार के पदार्थों में व्याप्त होता हुआ सांसारिक सुख-दुःख से अभिभूत नहीं होता है। (9-11)

22. एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

(कठोपनिषद् 5/12)

23. नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां योविदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

(कठोपनिषद् 5/13)

अर्थात् हे नचिकेता! वह ब्रह्म एक है, अनेक नहीं, सब भूतों के अन्तर भी बैठा हुआ वही उनके शुभ-अशुभ कर्मों को देख रहा है उससे कोई छुपा नहीं सकता। साकार मानने पर एकदेशी हो जाता है, फिर कैसे जीवों के कर्मफल की यथार्थरूप में व्यवस्था करेगा। एक अनादि सत्व-रज तम साम्यावस्था प्रकृति से इस संसार को नानाविध बनाता है। जो धैर्यशाली विवेकी हैं वे ही उस आत्मा में स्थित योग द्वारा उसका साक्षात्कार करते हैं उनको ही मुक्ति रूपी स्थाई सुख प्राप्त होता है। इनसे भिन्न अधैर्यवान् और अविवेकियों को वह सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

जो जीव और कारणरूप प्रकृति अनादि = नित्य पदार्थ हैं उन को नित्य रहने वाला, क्योंकि प्रकृति से सूक्ष्म जीवात्मा और इनसे भी सूक्ष्म ईश्वर है। इसीलिये तो इनमें व्याप्य-व्यापक भाव कहा है। स्थूल वस्तु में ही सूक्ष्मता आ सकती है, छोटे पात्र में बड़ा पात्र कैसे आ सकता है? जैसे सूक्ष्म अग्नि और आकाश सबमें व्याप्त है। वही एक ब्रह्म सभी प्राणियों के कर्मफलों को प्राप्त कराता है उस इस प्रकार के संसार रूपी गर्भ = आत्माओं में रहने वाले ब्रह्म को धीर-ब्रह्मज्ञानी जान लेते हैं उन्हीं को शाश्वत्-शान्ति प्राप्त होती है। और जो महा-अज्ञानी हैं उसकी इस प्रकार की सत्ता से अनभिज्ञ हैं, उसका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते, वे आवागमन रूप

दुःख-सागर में गोते खाते रहते हैं। उनको शाश्वत् शान्ति कभी नहीं मिलती।

24. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति॥

(कठोपनिषद् 5/15)

उस ब्रह्म को न तो सूर्य का प्रकाश ही प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा के ही प्रकाश से, न तारागणों से, न विद्युत के ही प्रकाश से फिर इस भौतिक अग्नि की तो बात ही क्या है। अपितु ये सभी चन्द्रादि उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं, उसका प्रकाश ही सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। इसलिये ऐसा वह ब्रह्म है, और उसको योग-समाधि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा मेरा मत है, यही उपदेश मैंने आपको दिया है। उसको तू स्वीकार कर, जो तू चाहता है वह ब्रह्म तुझे प्राप्त हो जायेगा।

ब्रह्म (ईश्वर) के स्वरूप के विषय में मुण्डकोपनिषद् में भी बहुत सुन्दर वर्णन मिलता है:-

25. दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो अक्षरात् परतः परः॥

(मुण्डकोपनिषद् 2/1/2)

अर्थात् वह ब्रह्म कैसा है ? उसका वर्णन करते हुए ऋषि बोले कि वह सब सूर्य-चन्द्र आदि प्रकाशकों का भी प्रकाशक शरीर रहित निराकार, इस ब्रह्माण्ड के अन्दर और बाहर कण-कण में व्यापक है अजर, अमर नित्य शाश्वत् रहने वाला है। प्राण, मन रहित है, शुद्ध स्वरूप है और इस प्रकृति से भी सूक्ष्म है। उससे सूक्ष्म कोई नहीं है। अविनाशी जीवात्मा से अत्यंत श्रेष्ठ है।

पुनः उक्त विषय को और स्पष्ट करते हैं-

26. एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

(मुण्डकोपनिषद् 2/1/3)

अर्थात् वह ब्रह्म ही इस प्राणः (जीवात्मा) को मन आदि ग्यारह ज्ञान-कर्म इन्द्रियों सहित भौतिक शरीर को धारण कराता है और आकाश, वायु, अग्नि, जल और इस समस्त विश्व को धारण करने वाली पृथिवी को उत्पन्न करता है। अर्थात् इस जड़-चेतन जगत् को यथावत् उत्पन्न करके व्यवस्थित रखता है। स्वयं उत्पन्न नहीं होता।

27. अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यो, दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येषसर्वभूतान्तरात्मा।।

(मुण्डकोपनिषद् 2/1/4)

अर्थात् अब उस जगन्नियन्ता ब्रह्म का रूपक-अलंकार के रूप में वर्णन करते हैं उस परब्रह्म परमात्मा का यह भौतिक अग्नि-मूर्धा = मस्तिष्क में ज्ञान तन्तु के समान है, जैसे अग्नि से समस्त पदार्थ दृष्टिगोचर होने लगते हैं, वैसे ही मूर्धा में ही ज्ञान केन्द्र है, ईश्वर की समस्त सत्य-विद्याओं का प्रकाश वेदवाणी द्वारा सृष्टि के आदि में, मानवों के कल्याणार्थ ऋग्वेद-यजुर्वेदादि चारों वेदों को अग्नि, वायु आदि ऋषियों द्वारा प्रकट करता है। सूर्य और चन्द्र ही मानो उसके दो नेत्रवत् है, पूर्व, पश्चिमादि दिशायें जिसके श्रोत्र = कान हैं, विस्तृत वेदवाणी ही जिसकी वाणी है, जैसे लौकिक व्यक्ति स्ववाणी द्वारा उपदेश करता है, वैसे ही वह ब्रह्म सभी मनुष्यों के सत्यासत्य, निर्णायार्थ वेदवाणी को प्रकट करता है। वायु ही मानो जिसके प्राण हैं अर्थात् वायुवत् समस्त चराचर जगत् का धारक है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही जिसका विशाल हृदय है, पृथिवी पैरवत् है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अन्दर और बाहर विद्यमान है।

28. न तत्र सूर्यो भाति प चन्द्रतारकं नेमां विद्युतो भांति कुतोंऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

(मुण्डकोपनिषद् 2/2/10)

जैसे कठोपनिषद् के 5/15 में कहा है वैसे ही मुण्डकोपनिषद् में कहा है।

29. ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्मदक्षिणातश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसूतं ब्रह्मैवेद विश्वमिदं वरिष्ठम्।।

(मुण्डकोपनिषद् 2/2/11)

अर्थात् हे ब्रह्म जिज्ञासुओं तुम उस अविनाशी ब्रह्म को भली प्रकार जानो फिर मानो क्योंकि बिना ब्रह्म के स्वरूप के जाने आत्म कल्याण नहीं होता वह ब्रह्म ही हमारे आगे है पीछे है दायें और बायें है और ऊपर नीचे है अर्थात् सर्वत्र फैला हुआ है सर्वव्यापक है और सबसे श्रेष्ठ और महान् है। इसलिए उसको योगाभ्यास द्वारा अवश्य प्राप्त करो।

माण्डूक्योपनिषद् में भी ईश्वर के मुख्य नाम ओंकार के विषय में उपदेश किया है:-

30. ओमित्येतदक्षरमिदथंसर्वतस्योपव्याख्यानं
भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव।

यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव॥ (माण्डूक्योपनिषद् 1)

अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता, जो भूत-भविष्यत् आदि तीनों कालों से भी पृथक् सर्वव्यापक है। जिस ब्रह्म का मुख्य नाम 'ओ३म्' है यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस का रचा हुआ है, उसकी ही महिमा का द्योतक है। जैसे अकार, उकार और मकार इन तीन मात्राओं से 'ओ३म्' शब्द बनता है। अकार से ईश्वर, उकार से जीव और मकार से प्रकृति। अकार से पृथिवी, उकार से अन्तरिक्ष और मकार से द्यौ लोक। अकार से ज्ञान, उकार से कर्म और मकार से उपासना। अकार से ऋग्वेद, उकार से यजुर्वेद और मकार से सामवेद। अकार से सृष्टि की उत्पत्ति, उकार से स्थिति और मकार से प्रलय। इस प्रकार ओंकार का विस्तार से वेदशास्त्रों ने ऋषि-मुनियों ने उपदेश किया है। इसलिये सर्वत्र ओ३म् का ही महत्त्व दृष्टिगोचर हो रहा है।

31. सवर्थ्ं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पाद्।

(माण्डूक्योपनिषद् 2)

अर्थात् यह समस्त चराचर जगत् मानो ब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्म की शक्ति से ही यह प्राण धारण किये हुए है। यह जीवात्मा भी मानो ब्रह्म ही है, क्योंकि, ब्रह्मवत् शरीर का सञ्चालक होने से, ब्रह्म सारे ब्रह्माण्ड का है और जब यह ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त कर लेता है, तब ब्रह्मवत् इसके भी चार पाद = स्थान हैं।

32. अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत
एवोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद यं एवं वेद।

(माण्डूक्योपनिषद् 12)

अर्थात् ओंकार जो सब में व्याप्त, सबसे श्रेष्ठ, सबका कर्त्ता, धर्त्ता, हर्ता, कल्याणकारी, अद्वितीयादि गुण विशिष्ट है, उसका चतुर्थपाद अमात्रवाला है। उस ब्रह्म को योगी लोग समाधिस्थ होकर अपने शुद्ध-पवित्र जीवन से उस उक्त परब्रह्म को प्राप्त होकर इस संसार के दुःखरूप आवागमन से छूट जाते हैं। यही इस ओंकार की उपासना का रहस्य जानना चाहिये।

ऐतरेयोपनिषद् के प्रथम अध्याय प्रथम खण्ड में एकमात्र सृष्टिकर्ता ईश्वर की महिमा का वर्णन है:-

33. आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।
नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति॥

(ऐतरेयोपनिषद् 1)

अर्थात् इस कार्यरूप सृष्टि से पूर्व प्रलयसमय में परमात्मा ही इस का एकमात्र रचयिता था, अन्य जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में और मोक्षात्मायें मोक्षानन्द में थीं और प्रकृति भी अपने कारण-अवस्था में थी। इसलिये उस समय यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अव्यवहार्य दशा में रहता है। अर्थात् इन सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों का और जीवात्माओं की इस वर्तमान जैसी स्थूल आकृति-प्रकृति नहीं होती, इसी से इनको 'न मिषत्' = आंख खोलने और वन्द करने के व्यवहार से रहित कहा है। यह सब भौतिक शरीर के साथ ही होता है, प्रलयावस्था में नहीं। उस समय सृष्टि के आदि में प्रलयावस्था की अवधि समाप्त होने पर ईश्वर ने चाहा की इस ब्रह्मांड का पुनः सृजन करूं, तात्पर्य है की इस सारे ब्रह्मांड का रचयिता ईश्वर ही है।

34. तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्त्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैवं तपसा योऽनुपश्यति॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/15)

अर्थात् जिस प्रकार तिलों में तेल होता है, पर बिना पैले तेल नहीं दीखता, दही में घृत होता हुआ भी बिना मथे नहीं दीखता, भूमि में झरने का जल बिना खोदे नहीं दीखता और अरणियों में अग्नि होती हुई बिना घर्षण किए नहीं प्रकट होती, इसी प्रकार जीवात्मा में परमात्मा विद्यमान होता हुआ भी बिना सत्य, द्वन्द्वों के सहने और श्रद्धापूर्वक समाधि का अभ्यास किये ईश्वर का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है।

35. अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः न च
तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम्।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/19)

अर्थात् हे मनुष्यो! वह निराकार ब्रह्म हाथ, पैर, चक्षुः, श्रोत्र आदि से रहित होता हुआ भी सबको पकड़े हुए है, सर्वत्र गतिशील है, सबको, सब समय, सब स्थानों में शुभाशुभ कर्म करते हुए देखता है और सबकी सुनता है, कोई उसे पुकारे तो वह सुख-शान्ति देगा, रक्षा करेगा। वह सब कुछ को जानता है, क्योंकि वह सर्वज्ञानमय है, सर्वज्ञ है, परन्तु उसको पूर्णरूप से कोई नहीं जान सकता, क्योंकि वह असीम है, मानव ससीम, अल्पज्ञ और एक देशी है। और उसी महान् पुरुष को सृष्टि से पूर्व भी विद्यमान मानते हैं, ऐसा सब वेदशास्त्रों का कथन है।

36. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमीशम्॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/20)

अर्थात् यह सर्वत्र व्यापक प्रभु अणु से भी अणु और महान् से भी महान् =

बड़ा है। इस मानव = प्राणीमात्र के हृदयस्थ आत्मा में व्याप्त है। जो। उस ब्रह्म को सब कुछ जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार करता हुआ भी, अक्रतु समझकर उसकी उपासना करता है, वह उस प्रभु की कृपा से, अथवा शुद्ध पवित्र जीवन से साधना, यज्ञ-यागादि वेदोक्त शुभकर्म करता है, वह शोक-सन्ताप और पञ्च क्लेशों से रहित होकर उसकी महिमा का पात्र हो जाता है, अथवा मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

37. वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/21)

अर्थात् हे ब्रह्म जिज्ञासुओं! उस ब्रह्म को मैं भली प्रकार से जानता हूँ कि, वह जरा-जीर्ण-शीर्णता से रहित है, सबसे पुराणं = अनादि, शाश्वत् नित्य रहने वाला है, सर्वज्ञाता, सर्वव्यापक है। सबसे विभु होने के कारण और जन्म-मरण रहित है। ऐसा ही ब्रह्म के जानने वाले विद्वान् लोग कहते हैं। अर्थात् यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है, आर्ष मत है।

उपनिषदों में परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का वर्णन उपर्युक्त मन्त्रों के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है। यदि मनुष्य को परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध प्राप्त करना है तो वह उपनिषदों के स्वाध्याय से सम्भव हो सकता है। मनुष्य जीवन का उद्देश्य परमात्मा के स्वरूप को समझकर ही पूर्ण किया जा सकता है। यद्यपि उपनिषदों में वर्णित ईश्वर के स्वरूप के विषय में दिये गये प्रमाण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं, परन्तु विस्तार भय से कुछ प्रमाण ही प्रस्तुत किये गये हैं।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 18 (105-116) January-June 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

वैदिक वाङ्मय में ऋतु विवेचन

-देवप्रकाश

शोधछात्र, वेदविभाग

गुरुकुल कांगड़ी समविश्वविद्यालय, हरिद्वार

वेदों में काल को परिभाषित एवं मापने के अनेक परिमाण बतलाये गये हैं। उनमें से एक ऋतु है। इसी प्रकार अयन, वर्ष या सम्वत्सर भी हैं। ऋतुओं का सम्बन्ध काल के प्रत्येक विभाग से है। क्योंकि काल एक द्रव्य है और ऋतु उसका अंश। अति प्राचीन काल से वेदार्थ की तीन प्रक्रियायें प्रचलित हैं (1) आध्यात्मिक (आत्मा, मन, इन्द्रिय व शरीर सम्बन्धी), (2) आधिदैविक (देवताओं अर्थात् ब्रह्माण्ड की विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों से सम्बन्धित) तथा (3) आधियाज्ञिक (यज्ञ से सम्बन्धित)। वेद में साक्षात् द्रव्ययज्ञों का विधान नहीं है, अतः वेदमन्त्रों के स्वाभाविक अर्थ दो प्रकार के हैं आध्यात्मिक और आधिदैविक। वेद के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थों का साक्षात् बोध कराने के लिये ऋषियों ने वेद के व्याख्यान भूत ब्राह्मण ग्रन्थों में आधियाज्ञिक प्रक्रिया को प्रस्तुत किया है। इन यज्ञों के माध्यम से इस ब्रह्माण्ड की रचना, स्थिति, क्रिया और प्रलय तक का वर्णन किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित यज्ञ संवत्सर प्रजापति है।[1] जिसके माध्यम से यह सृष्टि गतिमान है। इस संवत्सरयज्ञ में भी विभाग होते हैं। वे ऋतुयाग अथवा चातुर्मास्य याग कहलाते हैं। जैमिनि ब्राह्मण में कहा है कि- **"ऋतुषु ह खुल वा एष संवत्सर स्वर्ग लोकमप्येति यश्चातुर्मास्ययाजी"**[2] जो चातुर्मास्य याजी ऋतुओं में होम करता है वह संवत्सर रूपी स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है। क्योंकि- **"स्वरादित्यो भवति"**[3] अतः वह संवत्सररूपी स्वर्गआदित्य को प्राप्त करता है।

ऋतु शब्द **"ऋतुरर्तेर्गतिकर्मणः"**[4] ऋगतौ धातु से निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ निर्वचन करते हुये स्वामी दयानन्द सरस्वती औणादिक वृत्ति में लिखते हैं कि-

---

1. संवत्सरो वै यज्ञः प्रजापति।। शत०ब्रा० 11.1.1.1
2. जैमि०ब्रा० 2.234
3. निरु० 2.4.2
4. निरु० 2.7.3

"पुनः पुनः ऋच्छति गच्छत्यागच्छतीति ऋतुः वसन्तादि"[1] जो बार बार जाती और आती है वह ऋतु वसन्तादि है। मैत्रायणी संहिता में **"रश्मयः ऋतवः"**[2] ऋतु एक पदार्थ है, जो किरणों के रूप में होता है। क्योंकि- **"सवि॒ताषड॑क्षरेण॒ षड्ऋ॒तूनु॒द॑जय॒त्"**[3] ऋतुओं की उत्पत्ति सूर्य किरणों के कारण होती है। तैत्तिरीय संहिता में कहा है कि- **"संवत्सरो वा इदमेक आसीत् सोऽकामयतर्तून्त्सृजेयेति स एतं पञ्चरात्रमपश्त्तमाहरत् तेनायजत ततो वै स ऋतूनसृजत"**[4] संवत्सर प्रजापति प्रारम्भ में अकेला था उसने कामना की कि मैं ऋतुओं का सर्जन करूं तब उसने इस पञ्चरात्र याग को देखा उसको ग्रहण किया और उसका यजन किया। उस यजन से ऋतुओं को उत्पन्न किया। **"स वैसम्वत्सर एव प्रजापतिः"**[5] शतपथ श्रुति इस संवत्सर को प्रजापति कहती है। **"संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरः"**[6] यह संवत्सर प्रजापति वैश्वानर अग्नि ही है। इस अग्नि को ब्रह्माण्ड पुराण में ऋत अग्नि भी कहा गया है- **"ऋतमग्निस्तु यः प्रोक्तः स तु सम्वत्सरो मतः। जज्ञिरे हि ऋतवस्तस्माद् ऋतुभ्यश्चार्तवस्तथा। आर्तवाह्यनुमासाख्याः पितरो ह्यृतुसूनवः। ऋतवः पितामहा मासा अयनाह्यब्दसूनवः। प्रपितामहास्तु वै देवाः पञ्चाब्दा ब्रह्मणः सुताः"**[7] उस वैश्वानर अग्नि को ऋत अग्नि कहा जाता है। ऋत अग्नि से ऋतुओं की उत्पत्ति हुई। और ऋतुओं से आर्तव (सौर मासों) की। वे अयन भेद से दो प्रकार के हैं देव और पितर। शतपथ में इस यज्ञ प्रजापति का वर्णन करते हुये कहा गया है कि **"अथ ह वा एष महासुपर्ण एव यत् संवत्सरः तस्य यान् पुरस्तात् विषुवतः षण्मासमुपयन्ति सोऽन्यतरः पक्षः अथ यान् षडुपरिष्टात् सोऽन्यतर आत्मा विषुवान्"**[8] यह संवत्सर प्रजापति महासुपर्ण है। जो इसके छः छः मास के उत्तरयण और दक्षिणायन पक्ष ही सुपर्ण है। आत्मा विषुवान् सूर्य है। **"वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः ते देवा ऋतवः। शरद्धेमन्त शिशिरः ते पितरः। य एवापूर्यतेऽर्धमासः स देवाः। योऽपक्षीयते स पितरः। अहरेव देवाः रात्रिः पितरः, पुनरहः पूर्वाह्णोदेवाः अपराह्णः पितरः। ते वा**

---

1. उणा० 1.72
2. मैत्रा० सं० 4.8.8
3. यजु० 9.32
4. तै०सं० 7.1.10.1
5. शत० 1.6.3.35
6. तै०ब्रा० 1.7.2.5
7. ब्रह्मा०पु०पू० 28.15-17 प्रजापतिः स्मृतो यस्तु स तु सम्वत्सरो मतः। सम्वत्सरः सुतो ह्यग्निर्ऋतमित्युच्यते बुधैः। ऋतात्तु ऋतवो यस्माज्जज्ञिरे ऋतवस्ततः। मासाः षडर्तवो ज्ञेयास्तेषां पञ्चर्तवाः स्मृताः।। ब्रह्मा० पु०पू० 13.22-24
8. शत० 12.2.3.7

एत ऋतवो देवाः पितरः"[1] इस संवत्सर महासुपर्ण के उत्तरायण और दक्षिणायन को ही देव और पितर कहा जाता है, जिन छः मासों में प्रकाश (अग्नि) की मात्रा बढ़ती है और सोम की कम होती है, वे देव हैं। और जिन छः मासों में अग्नि की मात्रा घटती और सोम की बढ़ती है वे पितर है। इसी प्रकार देव पितर काल के प्रत्येक अवयव में घटित होते हैं। यथा- दिवस का पूर्वाह्ण देव और अपराह्ण पितर उसी प्रकार मास का शुक्ल व कृष्ण पक्ष अर्थात् अग्नि प्रधान देव व सोम प्रधान पितर हैं।

इस संवत्सर रूपी अग्नि में सोमाहुति पड़ने पर ऋतुओं की उत्पत्ति होती है। यज्ञ को परिभाषित करते हुये कात्यायन श्रौतसूत्र में कहा है- **"द्रव्यं देवता त्यागः यागः"**[2] देवता को उद्देश्य करके द्रव्य का त्याग ही यज्ञ है। "देवता अग्नि है।द्रव्य सोम है अतः सोम का अग्नि मे हुत होना ही यज्ञ है। यह यज्ञ आधिदैविक जगत् में अनवरत चलता रहता है। **"सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्"**[3] इस शतपथ श्रुति के अनुसार सूर्य को अग्नहोत्र कहा गया है। अतः जब यह अग्निहोत्र है तब इसमें हुत होने वाला द्रव्य क्या है। अभिप्राय यह है कि संवत्सर प्रजापति अग्नि सूर्य रश्मियाँ हैं और **"एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः"**[4] सोम निश्चय ही चन्द्रमा है जो देवताओं का अन्न है। अग्नि और सोम के सम्बन्ध को कौषीतकि ब्राह्मण में कहा है कि **"सोमं राजानं चन्द्रमसं भक्षयामि इति मनसा ध्यायन्नश्नीयात्तदसौ वै सोमं राजा विचक्षणश्चन्द्रमाः"**[5] सोम राजा चन्द्रमा (हवि) को खा रहा हूँ। यह मन से ध्यान करते हुये खाये, वे सोम राजा विचक्षण चन्द्रमा है। अतएव कहा है- **"येनर्तवः पञ्चधोत क्लृप्ताः। उत वा षड्धा मनसोत क्लृप्ताः। तं षड्ढोतारमृतुभिः कल्पमानम्। ऋतस्य पदे कवयो निपान्ति।।**[6] अर्थात् प्रजापति ने जिस चन्द्ररूप षड् होतृदेव के द्वारा वसन्तादि पाँच अथवा छः प्रकार की ऋतुओं की उत्पत्ति मन के संकल्प मात्र से की। **"चन्द्रमाः षड्ढोता, स ऋतून्कल्पयाति"**[7] चन्द्रमा (षड् ऋतुओं द्वारा उपकार करने के कारण षड् होता है। चन्द्रमा वृद्धीक्षय रूपी शुक्ल कृष्ण पक्ष द्वारा ऋतुओं की सृष्टि करता है। पूर्व में प्रतिपादित किया कि सभी ऋतुयें अग्नि (सूर्य) प्रजापति नामक संवत्सर में सोम (चन्द्र किरणों) की आहुति से निष्पन्न

1. शत० 2.1.3.1-2
2. का०श्रौ० 1.10
3. शत०ब्रा० 2.3.1.1
4. शत०ब्रा० 1.6.3.5
5. कौ०ब्रा० 4.4
6. तैत्ति०आ० 3.11.5
7. तैत्ति०आ० 3.7.3

हुई हैं। ऋतु संज्ञा से भी यही विदित होता है कि जो सौर अग्नि अपने मूल (प्रभव) स्थान से किरण रूप में चलकर वायु के माध्यम से संचरण करने लगता है वह 'ऋत' कहलाता है। **"ऋतवो वै मरुतः"**[1] ऋतु किरणें सूक्ष्म छन्द (मरुत्) रूप ही होती हैं। इस ऋत (गतिशील) अग्नि में सोम (चन्द्र) किरणों का सम्बन्ध तारतम्य (कम-ज्यादा) भाव में मिलने पर ऋतु कहलाता है। दूसरे शब्दों में ऋत अग्नि में ऋत सोम की आहुति होने से जो अग्नि सोमात्मक अपूर्व सांयोगिक भाव बनता है उसे ही ऋतु कहते हैं। इसी कारण हमें सर्दी गर्मी का अनुभव होता है। यही यज्ञ सम्वत्सर प्रजापति है।

ऋतुविभाग व परिमाण- अस्तु संवत्सर सूर्य किरणों (अग्नि) में द्रव्य रूपी सोम चन्द्रमा की किरणों के तारतम्यता से आहुत होने से ऋतुयज्ञ सम्पन्न होता है। **"पञ्चरात्रो भवति पञ्च वा ऋतवः संवत्सर ऋतुष्वेव संवत्सरे प्रतितिष्ठत्यथो पञ्चाक्षरा पाङ्क्तः पाङ्क्तो यज्ञो यज्ञमेवावरून्धे"**[2] इस संवत्सर अग्नि ने पञ्चरात्र यज्ञ किया पञ्चरात्र यज्ञ ही संवत्सर की पाँच ऋतुयें है क्योंकि संवत्सर पाँच में ही प्रतिष्ठित होता है, पङ्क्ति छन्द भी पाँच पदों का होता है और पाङ्क्त यज्ञ है। ऋग्वेद संवत्सर में पाँच ऋतुओं का उल्लेख करता है **"पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने"**[3] संवत्सर रूपी चक्र में पाँच ऋतु रूपी अरे लगे हुये हैं। ऋतु के विषय में ऋषियों का कथन है- **"ऋतवो वै दिशः प्रजननः"**[4] **"तानि वा एतानि (भूर्भुवस्स्वरिति) पञ्चाक्षराणि। तान् पञ्चऽर्तूनकुरुत (प्रजापतिः) ते इमे पञ्चर्तवः"**[5] ऋतु किरणें दिशाओं को उत्पन्न करती हैं अर्थात् इनके कारण विभिन्न लोक वा कणों के घूर्णन की दिशाएं निर्धारित होने में सहयोग मिलता है। 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' इन तीन महाव्याहृतियों के कुल पांच अक्षर पांच ऋतु हैं।

परन्तु ब्राह्मणग्रन्थ संवत्सर में छः ऋतुयें भी मानते हैं **"षड् ऋतुः संवत्सरः षड्विध"**[6] **"धाता षडक्षरेण षड् ऋतूनुदजयत्"**[7] **"तद्यानि तानि भूतानि ऋतवस्ते"**[8] अर्थात् संवत्सर षड्विध है, 'ओम्' व्याहृति सहित उपर्युक्त पांच अक्षर मिलाकर छः ऋतुओं के रूप में होते हैं। सभी उत्पन्न पदार्थ भी 'ऋतु' कहाते हैं, क्योंकि वे सभी

1. मै० 4.6.8
2. तै०सं० 7.1.10.3-4
3. ऋ० 1.164.13
4. गो०उ० 6.12
5. श० 11.1.6.5
6. कौ०ब्रा० 14.1
7. तै०सं० 1.7.11.1
8. श० 6.1.3.8

निरन्तर गमन करते रहते हैं। पाँच ऋतु और छः ऋतुओं का सामञ्जस्य निरूक्तकार करते हुये कहता है कि- **"पच्चर्तवः सवंत्सरस्य"**[1] **इति च ब्राह्मणम्। हेमन्त शिशिरयोः समासेन"**[2] हेमन्त और शिशिर को एक ही ऋतु मान लेते है। क्योंकि दोनों ऋतुओं में शीत ही होता है और कोई विशेषभेद न होने से दोनों को एक मानकर वेद ने पाँच ऋतु कही हैं। कौषीतकि ब्राह्मण में संवत्सर प्रजापति को तीन ऋतुओं वाला भी कहा है कि- **"तद्यद् द्वन्द्वं समस्ता ऋतव आख्यायन्ते ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति"**[3] उन ऋतुओं को दो दो के युग्म से एक ऋतु के नाम से भी कहा जाता है। वसन्त और ग्रीष्म को ग्रीष्म, वर्षा और शरद् को वर्षा तथा हेमन्त और शिशिर को हेमन्त इस प्रकार यह समस्त रूप से तीन ऋतु कही जाती हैं। अतः **"विंशतिशतं वा ऋतोरहानि"**[4] इस तीन पक्ष में एक ऋतु का परिमाण एक सौ बीस दिन होता है। जैमिनि ब्राह्मण में छः ऋतुओं के नाम क्रमशः **"वसन्तो वै प्रथम ऋतूनां ग्रीष्मो द्वितीयो वर्षास्तृतीयाश्शरच्चतुर्थी हेमन्तः पच्चमश्शिशिरष्षष्ठः"**[5] वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर कहे गये हैं। संवत्सर में छः ऋतु होती हैं **"द्वौ द्वौ हि मासावृतुः"**[6] उनका परिमाण दो-दो मास का होता है। इससे स्पष्ट होता है कि सतत गमन करने वाले पदार्थों की ऋतु संज्ञा होने के उपरान्त भी श्ऋतुश नामक एक विशिष्ट पदार्थ भी है। वह पदार्थ एकाक्षरा वाग् किरणों के रूप के अतिरिक्त दो-दो मास किरणों के युग्म के रूप में भी होता है। कौषीतकि ब्राह्मण कहता है कि **"ऋतुर्ऋतुं नानुप्रपद्यते"**[7] कोई दो ऋतुएं एक सदृश नहीं होती है इनमें अग्नि और सोम के मिश्रण में भेद रहता है। अब हम ऋतुओं का क्रमशः वर्णन करते हैं-

वसन्तु ऋतु- जो वस निवासे धातु से सिद्ध है **"यस्मिन्कालेऽग्निकणाः पदार्थेषुवसन्तोभवन्ति, स कालो वसन्तः"** स्वामी दयानन्द सरस्वती उणादि वृति में वसन्त का निर्वचन करते हुये कहते हैं कि **"यो वसति यत्र वा स वसन्त ऋतु भेदो वा"**[8] जो व्ययशेष अग्नि जिस समय में वास करता है, वह वसन्त काल

---

1. ऐत० 1.1
2. निरू० 4.4.6
3. कौ०ब्रा० 29.8
4. कौ०ब्रा० 11.7
5. जै०ब्रा० 2.356
6. तां०ब्रा० 10.12.8
7. कौ०ब्रा० 13.6
8. उणा० 3.128

है। **"मुखं वा एतदृतूनां यद्वसन्त"**[1] **"मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यत्फाल्गुनी पौर्णमासी"**[2] **"फाल्गुनी पूर्णमासो वा ऋतूनां मुखम्"**[3] अर्थात् वसन्त ऋतु को सब ऋतुओं का मुख कहा है। प्रथम ऋतु वसन्त है वसन्त ऋतु का समय फाल्गुनी पौर्णमासी से है। फाल्गुनी पौर्णमासी संवत्सर का मुख है। अर्थात् संवत्सर का प्रारम्भ फाल्गुनी पौर्णमासी के अनन्तर होता हैं अतः फाल्गुनी पौर्णमासी संवत्सर और ऋतुओं का प्रारम्भ है। यह प्रथम ऋतु का काल है। जब शीत (सोम) तत्व के चरम विकास के अनन्तर अग्नि का जन्म होकर वे अग्नि कण सोम भाव से सम्पन्न पटल पर पदार्थों में वसने लगता है। जिससे सभी दिशायें प्रकाशित हो जाती हैं। इसी कारण कौषीतकि श्रुति कहती है कि- **"वसन्ते वा इदं सर्वं समिध्यते"**[4] वसन्त ऋतु मे सभी पदार्थ प्रकाशित हो जाते हैं। अर्थात् वसन्त ऋतु में अग्नि उत्पन्न हो जाती है। इसी संवत्सर यज्ञ को दृष्टि में रखकर मानुष यज्ञ के लिय तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है कि- **"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत"**[5] वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्नयाधान करे। अर्थात् अग्नि को उत्पन्न करे। इसके विषय में ऋषियों ने लिखा है कि- **"मधुश्च माधवश्च वासन्तिका ऋतू"**[6] **"मुखं वा एतद् ऋतूनां यद् वसन्तः"**[7] **"तस्य (संवत्सरस्य) वसन्त एव द्वारं हेमन्तो द्वारम्"**[8] **"वसन्तो वै समित्"**[9] **"वसन्त आग्नीध्रः"**[10] **"वसन्त एव भर्गः"**[11] अर्थात् मधु व माधव मास किरणों का युग्म वसन्त ऋतु कहलाता है। वसन्त एवं हेमन्त किरणें सम्पूर्ण ऋतु रश्मिसमूह का मुखरूप हैं, अर्थात् ये किरणें विभिन्न किरणों को ग्रहण करके अन्य ऋतु किरणों को प्रेरित करने में विशेष रूप से प्रवृत्त होती हैं। इन ऋतु किरणों के प्रकाशित होते ही अन्य ऋतु किरणें प्रकाशित अर्थात् सक्रिय हो उठती हैं। इसके साथ ही ये अन्य मास किरणों को मार्ग प्रदान करती हैं। वसन्त किरणें ही ईंधन रूप होकर सभी ऋतु किरणों को सक्रिय व प्रकाशित करती हैं। वसन्त ऋतु किरणें अग्नि अर्थात् ऊष्मा

---

1. तै०सं० 1.1.2.6-7
2. कौ०ब्रा० 4.4
3. मै०सं० 1.6.6
4. कौ०ब्रा० 3.4
5. तै०ब्रा० 1.1.2.6
6. मै० 2.8.12
7. तै०ब्रा० 1.1.2.6-7
8. श० 1.6.1.19
9. श० 1.5.3.9
10. श० 11.2.7.32
11. गो०पू० 5.15

व विद्युत को धारण करने में विशेष सहायक होती हैं। वसन्त किरणें तेजस्विता की उत्पत्ति में सहायक होती हैं। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी पदार्थ अपने अवयवों के पृथक्-पृथक् गुणों का संग्रह मात्र नहीं होता, अपितु उसमें अनेक नवीन गुण भी उत्पन्न हो सकते हैं तथा पुराने गुण तिरोहित भी हो सकते हैं। इन किरणों को ब्रह्म रूप बताते हुए कहा है- **"ब्रह्म हि वसन्तः"**[1] इससे सिद्ध है कि ये किरणें अन्य ऋतु किरणों को बल व प्रेरण प्रदान करती हैं। इन किरणों की प्रधानता में सूक्ष्म अग्नि तत्व की प्रधानता होती है, इसी कारण कहा है- **"आग्नेयीं वसन्ते (आलभेत)"**[2]

ग्रीष्मऋतु-यस्मिन्कालेऽतिशयेनाग्निः पदार्थान् गृह्णाति, स कालो ग्रीष्मः, नितरां दहत्ययमग्निर्यस्मिन्काले पदार्थान्, स कालोनिदाघः इति वा" जब यही संवत्सर प्रजापति के यज्ञ की अग्नि आहुति से तीव्र होती जाती है, और रसादि पदार्थों को ग्रहण व दहन करने लग जाती है तब ग्रीष्म (निदाघ) ऋतु होती है। **"ग्रीष्मोग्रस्यन्तेऽस्मिन्नसाः"**[3] ये सूर्यकिरणें विभिन्न रसों अर्थात् प्राणादि किरणों को तीव्रता से अवशोषित करती हैं, इस कारण किसी भी पदार्थ के साथ इनके मेल से वह पदार्थ ऊष्मा को तीव्रता से अवशोषित करता है, अतः किसी भी पदार्थ के साथ इनके मेल से ऊष्मा की तीव्रता बढ़ती है। तब यह अग्नि ग्रीष्म ऋतु कहलाती है। ग्रीष्म का निर्वचन करते हुये स्वामी दयानन्द उणादि वृत्ति में लिखते हैं कि **"ग्रसते शीतं रसादिकं वा स ग्रीष्मः अत्युष्ण कालो वा"**[4] जिस काल में अग्नि अत्यधिक शीत रस आदि पदार्थों का ग्रहण कर लेता है, यही काल ग्रीष्म कहलाता है। कौषीतकि ब्राह्मण ग्रीष्म का लक्षण करते हुये कहता है कि- **"ग्रीष्मो हि तन्वं तपति"**[5] ग्रीष्म ऋतु तनुओं (शरीरों) को तपाता है। इन ऋतु किरणों के विषय में ऋषियों ने कहा है कि- **"एतावेव (शुक्रश्च शुचिश्च) ग्रैष्मौ (मासौ)। स यदेतयोर्बलिष्ठं तपति ते नो हेतौ शुक्रश्च शुचिश्च"**[6] इन वचनों से स्पष्ट है कि ये ऋतु शुक्र एवं शुचि नामक मास में होती हैं। इससे इनकी 'शुक्र' एवं 'शुचि' मास संज्ञा होती है। इनको क्षत्र रूप बताते हुए कहा है कि **"क्षत्रं हि ग्रीष्मः"**[7] अर्थात् ये

---

1. श० 2.1.3.5
2. काठ० 13.1
3. निरु० 4.4.6
4. उणा० 1.149
5. कौ०ब्रा० 3.4
6. श० 4.3.1.15
7. श० 2.1.3.5

किरणें भेदक गुणों से युक्त होती हैं। इन किरणों की प्रचुरता में इन्द्र तत्व (विद्युत्) की अधिकता होती है, इसी कारण कहा गया है- **"ग्रीष्मे मध्यन्दिने संहितामैन्द्रीम् (आलभेत)"**[1]।

वर्षा ऋतु- "यस्मिन्कालेऽग्निर्वर्षीयान् (प्रवृद्धः अतिशयेनोरू) भवति, स कालो वर्षा" यही संवत्सर प्रजापति के यज्ञ की अग्नि तीव्र और तीव्रतर होते हुये निस्सीम बना अर्थात् पार्थिव आन्त्यरिक्ष्य अग्नि विकास की चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो तैत्तिरीयआरण्यक के विज्ञान सूत्र के अनुसार **"अग्नेरापः"**[2] अग्नि से जल की उत्पत्ति होती है। अतः अग्नि ही आपः में परिवर्तित होकर वर्षा ऋतु कहलाती है। **"वर्षन्ति अग्नि कणाः इति वर्षाः"** यह उरूभाव वर्षा कहा जाता है जो वरण किया जाता है, जिसमें पर्जन्य बरसते हैं, अर्थात् अग्नि ही उरू होकर पर्जन्य रूप में एकत्रित होकर बरसती है। इस ऋतु के विषय में कहा है कि **"एतौ (नभश्च नभस्यश्च) एव वार्षिकौ (मासौ)"**[3] **"विड्ढि वर्षाः"**[4] **"मरुतो वै वृष्ट्या ईशते"**[5] इन वचनों से सिद्ध होता है किनभस् एवं नभस्य नामक मास किरणों का युग्म रूप वर्षा ऋतु कहलाता है। ये ऋतु किरणें विटू रूप होकर अन्य किरणों में प्रविष्ट होकर उन्हें अधिक समृद्ध बनाने में सहायक होती हैं। इन किरणों के द्वारा विभिन्न मरुद् किरणें नियन्त्रण सामर्थ्य से युक्त होती हैं। इससे नाना संयोगादि क्रियाएं समृद्ध होती हैं। इन किरणों की प्रचुरता में पर्जन्य अर्थात् सूक्ष्म मेघरूप पदार्थों का निर्माण होने लगता है, इसी कारण कहा है- **"षड्भिः पार्जन्यैर्वा मारुतैर्वा (पशुभिः) वर्षासु (यजते)"**[6] ये गुण नभ एवं नभस्य मास के संयुक्त रूप से उत्पन्न होते हैं, यह वर्षा ऋतु का सूचक है।

वर्षा ऋतु सभी ऋतुओं में मुख्य है, इसकी मुख्यता इस बात से भी है कि संवत्सर को भी वर्ष कहा जाता है। क्योंकि यह ऋतु अग्नि देवता का सर्वोच्च विकसित रूप होने के कारण सम्वत्सर का देवता है। सम्पूर्ण संवत्सर को एक ऋतु विशेष के बोधक शब्द से अभिहित किया जाता है वह वर्ष शब्द है इस तथ्य को विश्लेषित करते हुये शतपथकार कहते हैं- **"वर्षा हत्वेव सर्वेषां ऋतूनां रूपम्। उत् हि तद्वर्षासु भवति, यदाहुः ग्रीष्म इव वा अद्य इति। उत उ तद्वर्षासु भवति**

---

1. तै०ब्रा० 2.1.2.5
2. तै०आ० 8.1.3
3. श० 4.3.1.16
4. श० 2.1.3.5
5. मै० 4.1.18
6. श० 13.5.4.28

यदाह शिशिर इव वा अद्य इति। वर्षादिद् वर्षाः। अथैतदेव परोक्षं रूपं यदेव पुरस्ताद्वाति तद्वसन्तस्य रूपम्। यत् स्तनयति तद्ग्रीष्मस्य यद्वर्षति तद्वर्षाणां यद्विद्योतते तत् शरदः यत् वृष्ट्वा उद्गृह्णाति तद्धेमन्तस्य वर्षाः सर्व ऋतवः"[1] अर्थात् वसन्त, गीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर इन सभी सांवत्सरिक ऋतुओं का एक वर्षा ऋतु में ही भोग हो जाता है इसलिये वर्षा को 'सर्व ऋतु' कहा है। वर्षा ऋतु के आधार पर ही सम्पूर्ण संवत्सर का स्वरूप सुरक्षित है क्योकि वर्षा जल के कारण ही औषधि वनस्पतियों का उत्पादन सम्भव है जिससे सभी भूत जीवन ग्रहण करते हैं। यथा जब वायु पूर्व से चलती है तब वर्षा ऋतु में वसन्त का रूप होता है, जब ऊष्मा का वेग होता है तब ग्रीष्म ऋतु का स्वरूप प्रकट होता है, जब जल बरसता है तो वर्षा का रूप होता है। जब आकाश मेघाच्छन्न हो और विद्युत् चमक रही हो लेकिन वर्षा न हो रही हो तो शरद् ऋतु होती है। और जब अत्यन्त वर्षा होने के साथ शीत की छटा से वातावरण युक्त हो जाये तब हेमन्त ऋतु होती है। इसीलिये वर्षा को सर्वऋतु कहा है। कौषीतकि श्रुति स्पष्ट करती है कि- **"वर्षाभिर्हीडितमन्नाद्यमुत्तिष्ठति"**[2] वर्षा के द्वारा ही यज्ञीयान्न उत्पन्न होते हैं। और **"वर्षासु वै सर्वे कामाः"**[3] वर्षा ऋतु सभी कामनाओं का आश्रय है। अतः वर्ष का वर्षत्व वर्षा ऋतु पर ही अवलम्बित है यह प्रतिपादित किया।

शरद ऋतु-अब पितृप्राणात्मक ऋतुओं का वर्णन करते हैं। **"यस्मिन्कालेऽग्नि-कणाःशीर्णा भवन्ति (सोमकणाश्च प्रवृद्धा भवन्ति) स कालः शरत्"** वसन्त ऋतु से जिस अनुपात में संवत्सराग्नि का उद्ग्राभ हुआ था उसी अनुपात में सम्वत्सराग्नि का निग्राभ होने लग जाता अर्थात् अग्नि शिथिल होने लगता है, अग्नि के इस शीर्ण अवस्था में सोम स्वतः उभर आता है। अतः कहा है यही शरद ऋतु है। औणादिक वृत्ति में स्वामी दयानन्द सरस्वती शरद का निर्वचन करते हुये कहते हैं कि- **"शृणाति हिनस्ति अस्मिन्निति शरत् कालविशेष ऋतुर्वा"**[4] जिस समय अग्नि कण शीर्ण होने लगते हैं वह काल शरद् ऋतु कहलाता है। निरुक्तकार तो **"शच्छृता अस्यामोषधयो भवन्ति शीर्णा आप इति वा"**[5] शरदृतु में कुशादि औषधियों की प्रचुरता को द्योतित करता है और जल अर्थात् मेघ शीर्ण हो जाते हैं। इस ऋतु के विषय में लिखा है- **"स्वधा वै शरद्"**[6] **"एतावेव शारदौ (मासौ)**

1. शत० 2.2.3.8
2. कौ०ब्रा० 3.4
3. कौ०ब्रा० 1.3
4. उणा० 1.130
5. निरु० 4.4.4
6. श० 13.8.1.4

स यच्छरद्यूर्ग्रसः ओषधयः पच्यन्ते तेनो हैताविषश्चोर्जश्च"[1] **"अन्नं वै शरद्"**[2] इन वचनों से सिद्ध होता है किये किरणें स्वधा रूप होती हैं, इसका आशय है। **स्वधा = द्यावापृथिव्योर्नाम**[3] ये किरणें प्रकाशित तथा अप्रकाशित दोनों प्रकार के कणों के परस्पर संयोजन वियोजन में विशेष भूमिका निभाती हैं। ये किरणें अन्य किरणों द्वारा संगत होने किंवा उनके द्वारा अवशोषित होने वाली होती हैं। **"षड्भिर्मैत्रावरुणैः (पशुभिः) शरदि (यजते)"**[4] से संकेत मिलता है कि इन किरणों की प्रधानता में **"द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयोः प्रियं धाम"**[5] प्रकाशित व अप्रकाशित पदार्थों अर्थात् कणों की विद्यमानता व संगति भी प्रचुरता से होती है। कौषीतकि ब्राह्मण भी **"शरदि हि बर्हिष्ठा ओषधयो भवन्ति"**[6] शरद् ऋतु में औषधि वनस्पतियों की वृद्धि मानता है।

हेमन्त ऋतु-यस्मिन्कालेऽग्निकणा हीनतां गता भवन्ति, (सोमकणाश्च प्रवृद्धतरा भवन्ति) स कालोहेमन्तः" जब अग्निकण हीन हो और सोम कण की प्रधानता हो तब हेमन्त कहलाता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार **"यो हन्ति शीतेन स हेमन्त ऋतु भेदो वा"**[7] जो शीत के द्वारा मारता है वह हेमन्त ऋतु है। निरूक्तकार हेमन्त का निर्वचन करते हुये कहता है कि- **"हेमन्तो हिमवान् हिमं पुनर्हन्तेर्वा हिनोतेर्वा"**[8] जो हिमवान् है वह हेमन्त है, हिम हनन करने वाला होने से कहलाता है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है- **"हेमन्तो हि वरुणः"**[9] **"एतौ (सहश्च सहस्यश्च) एव हैमन्तिकौ (मासौ) स यद्धेमन्त इमाः प्रजाः सहसेव स्वं वशमुपनयते तेनो हेतौ सहश्च सहस्यश्च"**[10] **"हेमन्तो हिमवान्। हिमं पुनर्हन्तेर्वा। हिनोतेर्वा"**[11], इन वचनों से हेमन्त ऋतु के निम्न प्रभाव ज्ञात होते हैं कि ये किरणें वरुण रूप होने से अन्य किरणों को अपने साथ संगत करने किंवा उन्हें आच्छादित करने में विशेष समर्थ होती हैं। ये किरणें सहस् एवं सहस्य संज्ञक

---

1. श० 4.3.1.17
2. मै० 1.6.9
3. निघं० 3.30
4. श० 13.5.4.28
5. तां० 14.2.4
6. कौ०ब्रा० 3.4
7. उणा० 3.129
8. निरु० 4.4.6
9. मै० 1.10.12
10. श० 4.3.1.18
11. निरु० 4.27

मास किरणों का संयुक्त रूप होती हैं, जो अपने बल से अन्य मासादि किरणों को अपनी अनुगामिनी किंवा संगामिनी बनाती हैं। ये किरणें अन्य किरणों को बार-बार उत्तेजित वा प्रक्षिप्त करती हुई विभिन्न कणों को संगत कराने हेतु प्रेरित करती हैं। इनके विषय में कहा गया है **"षड्भिरैन्द्रावैष्णवैः (पशुभिः) हेमन्ते (यजते)"**[1]। इससे संकेत मिलता है कि इन किरणों की प्रचुरता में विद्युत् कणों के पारस्परिक संगम की प्रक्रिया तीव्र होती है। इन किरणों का प्रभाव सहस् एवं सहस्य मास किरणों के संयुक्त प्रभाव के साथ संगति रखता है। **"हेमन्तो वा इदं सर्वं स्वाहाकृतम्"**[2] यह कौषीतकि श्रुति हेमन्त को सबका समृद्ध करने वाला प्रतिपादित करती है।

शिशिर ऋतु- "पुनः पुनरतिशयेन यस्मिन्कालेऽग्निकणाः शीर्णाः भवन्ति (सोमकणाश्च प्रवृद्धतमा भवन्ति) सः कालः शिशिरः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार कुछ और काल के बाद अग्नि कण बिल्कुल ही शीर्ण हो जाये और शीत प्रवर्त्तक सोम की ही प्रधानता रह जाये वह शिशिर ऋतु होती है। स्वामी दयानन्द के अनुसार तो **"शशति दिनाल्पत्वाच्छीघ्रं गच्छति तत् शिशिरम् ऋतुर्हिमं शीतलं वस्तु वा"**[3] दिन छोटा होने से शीघ्र व्यतीत हो जाता है। वह शिशिर ऋतु है। निरुक्तकार के अनुसार **"शिशिरं श्रृणातेः शम्नातेर्वा"**[4] जिस काल में अग्नि कणों का शमन हो जाता है वह शिशिर ऋतु है। इस विषय में कहा है कि- **"तपश्च तपस्यश्च शैशिरा ऋतू"**[5] **"शिशिरं प्रतिष्ठानम्"**[6] **"शिशिरं वा अग्नेर्जन्म प्रजातमेवैनमाधत्ते सर्वासु दिक्ष्वृध्नवानीति वा अग्निमाधत्ते सर्वासु दिक्ष्वग्नि-श्शिशिरे"**[7] **"षड्भिरैन्द्राबार्हस्पत्यैः (पशुभिः) शिशिरे (यजते)"**[8] अर्थात् तपस् एवं तपस्य नामक किरणों का युग्म ही शिशिर नामक ऋतु रश्मि कहताहै। ये किरणें अन्य ऋतु किरणों की आधार रूप होती हैं। अग्नि का जन्म इन्हीं किरणों में होता है। इसका अभिप्राय हमें यह प्रतीत होता है कि तारों के केन्द्रीय भाग जैसे स्थानों में जहाँ ऊर्जा की उत्पत्ति होती है, वहाँ शिशिर ऋतु किरणों की प्रधानता होती है तथा इनकी प्रधानता में अन्य ऋतु किरणों की भी प्रतिष्ठा होती है। विशेषकर सूर्य (तारों) के बाहरी विशाल भाग में ऋतु किरणों की विशेष प्रधानता होती है, उस विशाल भाग

1. श० 13.5.4.28
2. कौ०ब्रा० 3.4
3. उणा० 1.53
4. निरु० 1.4.5
5. मै० 2.8.12
6. मै० 4.9.18
7. काठ० 8.1
8. श० 13.5.4.28

में गुरुत्वाकर्षण बल के कारण जो ताप सोमहुतकेद्वाराउत्पन्न होता है, वहाँ इन्हीं ऋतु किरणों की प्रधानता होती है। इन किरणों की प्रधानता में इन्द्र एवं बृहस्पति की प्रचुरता होती है। इसका तात्पर्य है कि- **"इन्द्रः = स यस्स आकाश इन्द्र एव सः"**[1] **"इन्द्रो वै यजमानः"**[2] **"प्राण एवेन्द्रः"**[3] **"वागिन्द्रः"**[4] इन किरणों की प्रचुरता में सभी प्राण, वाक् एवं आकाश किरणें एवं बृहस्पति रूप सूत्रात्मा वायु किरणें भी विशेष सक्रिय होकर नाना संयोगादि प्रक्रियाएं समृद्ध होती हैं।

अस्तु इस ऋतु विज्ञान के माध्यम से विदित होता है कि इस ब्राह्मण्ड में जो भी प्रपञ्च है वह सब अग्नि और सोमका ही है, इन्हीं से ऋतुओं की उत्पत्ति होती है और सम्पूर्ण संवत्सर ऋतुओं से व्याप्त है। अतः प्रत्येक वस्तु में ऋतु का संयोग है। अतः ऋतु धर्म जड़, चेतन दोनों में समान होते हैं। वृक्ष और चेतन जीवो में ऋतु के समय सन्तान उत्पन्न होता है यह ऋतु धर्म उनमें प्रत्येक ऋतु में परिवर्तित होते रहते है। यथा- ग्रीष्म ऋतु में आम का फल होता है शीतकाल में नहीं। भिन्न भिन्न अन्न भी भिन्न भिन्न ऋतुओं में होते है। अर्थात् जब ऋतुधर्म उनमें आता है तब उत्पत्ति करने की शक्ति होती है। ऋतु धर्म के अभाव से उत्पत्ति यासृजननहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु में ऋतुधर्मों का प्रवेश निर्गम होता रहता है। ऋतु यद्यपि पदार्थ भेद से असंख्य प्रकार की हैं। वे सब भिन्न भिन्न हैं। किन्तु सर्वसाधारण ऋतु छः ही प्रकार की हैं। (1) वसन्त, (2) ग्रीष्म (3) वर्षा इन तीन ऋतुओं में अग्नि की मात्रा बढ़ती जाती है। तत्पश्चात (4) शरद् (2) हेमन्त (3) शिशिर में अग्नि की मात्रा कम होती जाती है इस प्रकार अग्नि की वृद्धि के साथ सोम का ह्रास और सोम की वृद्धि के साथ अग्नि का ह्रास होता रहता है। यही आधिदैविक जगत् में विषुवान् आत्मा सूर्य प्रजापति का यज्ञ है।

अस्तु प्रकृत संवत्सर यज्ञ में अग्नि देवता है और सोम द्रव्य है जो अग्नि में निरन्तर हुत हो रहा है। इसी हेतु से जो मनुष्य अग्नि के गुणों को ग्रहण करता है वह देवता होकर देवयान मार्ग का पथिक कहलाता है। और जो सोम अर्थात द्रव्यों (भोग) में रत रहता है वह पितृयाण का पथिक होता है।

✦✦✦

---

1. जै०उ० 1.9.1.2
2. श० 2.1.2.11
3. श० 12.9.1.14
4. श० 8.7.2.6

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 18 (117-125) January-June 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

न्यायव्याकरणयोः शाब्दबोधविचारः

-राम किशोरः

ज्यूरिखविश्वविद्यालयः ज्यूरिख-8006,
स्विट्जरलैंड

उपोद्घातः (शोधपत्रसारांशः)

शाब्दबोधः एव कृत्स्नस्य जगद्व्यवहारस्य निदानभूतः अन्धकारनिवृत्तिश्च लोकस्य नानेन विना, उक्तञ्च दण्डिना "इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते"। गौ अस्ति, गाम् आनय एवंभूतेषु वाक्येषु आकाङ्क्षादियुक्तैः शब्दैः अस्तित्वाद्यर्थयुक्तमर्थज्ञानं भवति। शाब्दबोधै उभयोरपि शब्दार्थयोः ज्ञानं भवति अथ च विलक्षणं ज्ञानमस्ति शाब्दबोधस्सर्वदैव। स च शाब्दबोधः आकाङ्क्षायुक्तैर्शब्दैरेव प्रतिपादयेत् साकाङ्क्षशब्दाश्च सार्थकास्स्युः न तु निरर्थकाः। साकाङ्क्षशब्दाश्शब्दान्तर-सापेक्षकाः अथ वा अन्येषां शब्दानां सहाचर्येण स्वार्थं प्रकटी करोति। अतः शाब्दबोधस्तु न प्रत्यक्षप्रमाणं नाप्यनुमानप्रमाणम् अपि तु शब्दप्रमाणत्वात् पृथगेव स्वरूपमाधत्ते। अत्र शाब्दबोधमधिकृत्य नैयायिकानां वैयाकरणानां च मतं विस्तरेण प्रतिपादितम्।

अवतरणिका

"प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वा-भासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः"[1] इति प्रथमसूत्रे एव भगवता अक्षपादेन इदमुद्घोषितं यत् एतेषां प्रमाणादिषोडशपदार्थानां तत्वज्ञानमेव मोक्षहेतुः (निःश्रेयसाधिगमम्प्रति हेतुरिति भावः)। इदञ्च यथार्थज्ञानं (प्रमा) चतुर्विधं **प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात्** इति न्यैयायिकाः। इदानीं प्रत्यक्षादिचतुर्विधप्रमायाः उत्पत्तिक्रमः (करणं व्यापारश्च) रेखाचित्रमाध्यमेन अधः परिचीयते-

ज्ञानक्रमः-करणम् प्रमाणम्)+व्यापारः (करणम्+विषयः) → प्रमा (यथार्थज्ञानम्)

करणानि (साधनानि)- इन्द्रियम, व्याप्तिज्ञानम् सादृश्यज्ञानम्, पदज्ञानम्

1. न्यायसूत्रसंख्या-1/1/1।

प्रमाणानि	-	**प्रत्यक्षम्**	**अनुमानम्,**	**उपमानम्,**	**शब्दः**
		↓	↓	↓	↓
व्यापारः	-	**इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षः,**	**परामर्शः,**	**अतिदेशवाक्यार्थ-स्मरणम्**	**पदार्थो-पस्थितिः**
		↓	↓	↓	↓
प्रमायाः प्रकारः	-	**प्रत्यक्षम्,**	**अनुमितिः,**	**उपमितिः,**	**शाब्दबोधः।**

शाब्दबोधस्य अभिप्रायः-

चतुर्षु प्रत्यक्षादिप्रमेष्वन्यतमः अन्तिमः प्रमेयः शाब्दबोधः, शब्दाज्जातः शाब्दः, शाब्दश्चासौ बोधः शाब्दबोधः इति शाब्दबोधः, अर्थात् शब्दनिष्ठशक्तिज्ञानजन्यः बोधः। पदविशेषोपस्थितेन पदार्थेन सह पदान्तरोपस्थितस्य पदार्थस्य यः संसर्गः, तस्य ज्ञानं शाब्दबोधः, अन्वयबोधः, वाक्यार्थबोधो वा। आकाङ्क्षादिविशिष्टशब्दनिष्ठशक्तिज्ञानजन्यबोधः शाब्दबोधः इति हि निष्कृष्टार्थः।

शाब्दबोधे कारणतासामग्री-

अस्मिन् शाब्दबोधे पदज्ञानम्, पदजन्यपदार्थस्मरणम्, पदपदार्थयोः संसर्गात्मकं वृत्तिज्ञानम्, आसत्तिः-योग्यता-आकाक्षां-तत्पर्यमित्येतानि सहकारिकारणानि। तेषां मध्ये पदज्ञानं शाब्दबोधे करणम्। करणं च व्यापारवत्। व्यापार[1]श्चास्मिन् शाब्दबोधे पदज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितिः, सा च पदार्थोपस्थितिः वृत्तिज्ञानाधीना, वृत्तिश्च शक्ति-लक्षणान्यतरसम्बन्धरुपा। उक्तञ्च-

पदज्ञानं तु करणं, द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी।।[2]

अर्थात्

करणम् (साधनम्)	**पदज्ञानम्**
	↓
व्यापारः	**शक्तिज्ञानपदार्थोपस्थितिः**
	↓
फलम्	**शाब्दबोधः**

श्लोकस्य अयं भावः- पदज्ञानं तु करणं, द्वारं तत्र पदार्थधीः।

---

1. पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः।
2. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्डम्

शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी इत्युक्त्वा शाब्दबोधप्रक्रियां दर्शयन्ति तार्किकाः। अर्थस्त्वेत्थम् तत्र = शाब्दबोधे, पदज्ञानम्=पदविषयकं ज्ञानं, (न तु ज्ञायमानं पदम्)[1] तु = एव, करणम्=साधतकमम्, असाधारणं कारणं वा भवति। पदार्थधीः= पदज्ञानजन्यं तत् पदार्थस्य ज्ञानं तत्पदार्थविषयकं स्मरणम्, द्वारम्= व्यापारः अस्ति। यदि अत्र पदार्थविषयकस्मरणं नोच्येतार्थः तदा पदज्ञानवतः पुरुषस्य प्रत्यक्षदिना पदार्थस्य उपस्थितौ अपि शाब्दबोधो जायेत इत्यापत्तिर्भवेत्। शब्दबोधः+वाक्यार्थबोधः शब्दसमूहात्मकवाक्यजन्यः योऽस्ति सः, फलम् = प्रमा यथार्थानुभवोऽस्ति।

तत्र=पदजन्ये पदार्थस्मरणरूपे व्यापारे, शक्तिधीः=पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धरूपा या सङ्केताख्या शक्तिः[2] तस्याः, धीः=ज्ञानम्, सहकारिणी = सहकारिकारणं जायते। अत्र पदे शक्तिपदं वृत्तिबोधकम्। वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतररूपा।

अस्मात् पदात् अयमर्थो बोद्धव्यः अथवा "इदं पदममुमर्थं बोधयतु" इति पदप्रकारार्थविशेष्यकेच्छारूपशक्तिज्ञानरूपा, अर्थप्रकारकपदविशेष्यकेच्छारूपशक्तिज्ञानरूपा च सहकारिकाराणां भवतीत्यर्थः सम्पद्यते।

तत्र अस्मात् पदादयमर्थः बोद्धव्यः, इदं पदमिमर्थम् बोधयतु वेति ईश्वरस्य अस्मदीयानां वेच्छा शक्तिः, शक्तिग्रहश्च व्याकरणादिभ्यो ज्ञायते-

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।।[3]

धातुप्रकृतिप्रत्ययादीनां शक्तिग्रहो व्याकरणाद्भवति। क्वचित्सति बाधके त्यज्यते। यथा वैयाकरणैराख्यातस्य कर्तरि शक्तिरूच्यते। चैत्रः पचतीत्यादौ कर्त्रा सह चैत्रस्य अभेदान्वयः। तच्च नैयायिकैः गौरवात्त्यज्यते। कृतश्चैत्रादौ प्रकारीभूय भासते। व्यापारेऽपि न शक्तिः गौरवात्। रथे गच्छतीत्यादौ तु व्यापारे आश्रयत्वे वा लक्षणा।

एवञ्च पदज्ञानं शक्तिरूपया लक्षणरूपया वा वृत्त्या पदार्थमुपस्थापयति। ततः शाब्दबोधः भवति। अस्मिन् शाब्दबोधे **आसत्तिज्ञानं-योग्यताज्ञानं-आकाङ्क्षाज्ञानं-तात्पर्यज्ञानं** च कारणमिति प्राचीनाः वदन्ति। यत्पदार्थस्य यत्पदार्थेन अन्वयः अपेक्षितः

---

1. न तु ज्ञायमानं, पदभावेऽपि मौनिश्लोकादौ शाब्दबोधात्।
2. वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धः। शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः। सा च अस्मात् पदात् अयमर्थः बोद्धव्यः इतीश्वेराच्छा। आधनुके नाम्नि शक्तिरस्त्येव "एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्" इतीश्वेरेच्छायाः सत्त्वात्।आधुनिकेसङ्केतिते तु न शक्तिः इति सम्प्रदायः कित्विच्छैव, तेनाधुनिकसङ्केतितेऽपि शक्तिरस्त्येवेत्याहुःपदज्ञानस्य हि एकसम्बन्धिज्ञानविधया पदार्थोपस्थापकत्वम्। (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्डः)
3. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली,शब्दखण्डः

तयोः अव्यवधानेन उपस्थितिरासत्तिः, एकपदार्थेन अपरपदार्थसम्बन्धः, येन पदेन विना यत्पदार्थस्य अन्वयानुपपत्तिः, तेन पदेन सह तस्य पदस्य आकाङ्क्षा, वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्।

नव्यानां मते तु शाब्दबोधे एतेषामसत्त्यादीनां कारणत्वं नास्ति। तेषां मते पदज्ञानं पदजन्यपदार्थस्मरणं चेत्येतद्वयमेव शाब्दबोधे क्लृप्तं कारणम्। अस्मिन् वाक्यार्थबोधे पदैरुपस्थितानां पदार्थानाम् परस्परसम्बन्धपदैरेव ज्ञायते, अन्यथा इत्यत्र महती विप्रतिपत्तिरस्ति विदग्धानाम्।

आकाङ्क्षादीनां विवरणं संक्षेपतः अधः उपस्थाप्यते-

आकाङ्क्षा- न्यायसिद्धान्ते तावत् आकाङ्क्षाविषये विलसन्ति बहव्यः विप्रतिपत्तयः- तत्र उदयनाचार्यः आकाङ्क्षा तावत् जिज्ञासां प्रति योग्यता। मणिकारस्तु यस्य पदस्य यदभावप्रयुक्तस्वार्थान्वयाननुभावकत्वं तस्य पदस्य तदनुभावकत्वमेव आकाङ्क्षा। न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकारैः विश्वनाथाचार्यैरुच्यते- "यत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेत्[1] आकाङ्क्षा" अर्थात् समभिव्याहृतपदनिष्ठशाब्दबोधजनकत्वाभावः यत् पदाभावप्रयुक्तः स समभिव्याहृतपदनिष्ठतत्पदनिरूपिता आकाङ्क्षा। अन्नम्भट्टस्तु - पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावाकत्त्वमाकाङ्क्षा[2]। अस्याः आकाङ्क्षायाः ज्ञानं शाब्दबोधे हेतुः।

योग्यता- एकपदार्थे अपरपदार्थसम्बन्धः योग्यता। पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परीकिर्तिता[3]। जलेन सिञ्चति वृक्षमित्यादौ जले सेचनकारणतायाः सम्बन्धात् शाब्दबोधः। "वह्निना सिञ्चति" इत्यत्र तु सेचनं वह्निकरणत्वं च इत्यनयोः सम्बन्धो नास्तीति योग्यताभावात्, न शाब्दबोधः। अन्नम्भट्टपादेन- "अर्थाबाधः योग्यता"[4] इति।

आसत्तिः- आसत्तिर्नाम पदयोः सन्निधिः, अविलम्बेनोपस्थितिर्वा, "सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते[5]। पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः[6] इति अन्नम्भट्टपादाः। ययोः पदयोः परस्परम्मन्वयबोधः इष्यते तयोः पदयोः कालेन पदान्तरेण वा अव्यवधानं शाब्दबोधे कारणम्। यथा अश्वो चलति इत्यत्र अश्वपदेन चलतिपदस्य आसत्तिः अस्ति तज्ज्ञानत् शाब्दबोधः भवति।

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्डः
2. तर्कसंग्रहः, शब्दपरिछेदः
3. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्डः
4. तर्कसंग्रहः, शब्दपरिछेदः
5. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्डः
6. तर्कसंग्रहः, शब्दपरिछेदः

तात्पर्यम्- **"वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम्"**[1] इति मुक्तावलीकारः। अत्र वक्तृपदमभिसन्धाताबोधकम् न तु उच्चारयिता, तस्मात् मौनिश्लोकादौ न अतिव्याप्तिः। अभिसन्धात्रा यद् वाक्यार्थत्वेनाभिप्रेतं तदेव तात्पर्यम् इति पर्य्यवसितम्, तज्ज्ञानं शाब्दबोधे कारणम्। यदि तात्पर्यज्ञानं कारणं न स्यात् तदा सैन्धवमानय इत्यादिना युद्धयात्राप्रकरणे अश्वस्य भोजनप्रकरणे च लवणस्य बोध इति नियमो न स्यात्।

शाब्दिकानां मतमिहोपस्थाप्यते

फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्॥[2]

फलव्यापारौ धात्वर्थौ। तिबादिप्रत्ययाः आख्यातसञ्ज्ञकाः अतः आख्यातः तिङर्थः कर्ता/कर्म (आश्रयः)। धातुविहितप्रत्ययः। कर्ताकर्मक्रियादिद्वारा निष्पन्नः **शाब्दबोधः व्यापारमुख्यविशेष्यकः**[3] भवति। अत्र विशेषेण इदं ध्यातव्यं यत् वैयाकरणाः फलविशिष्टव्यापार एव धात्वर्थः अर्थात् फलविशिष्टव्यापाररूपार्थे धातोरखण्डशक्तिं मन्वन्ते। तेषां नये कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे (कर्तृवाच्ये) कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारे (कर्मवाच्ये) उभयत्र एकैव **व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधः**, फलविशिष्टव्यापारस्य धात्वर्थत्वात्। नव्यास्तु (नागेशादयः) **"सुप आत्मनः क्यच्"**[4] सूत्रस्य भाष्यमाधृत्य धातोः पृथक् पृथक् (खण्डशः) शक्तिं स्वीकृत्य फलमपि स्वतन्त्रतया धात्वर्थः, व्यापारोऽपि स्वतन्त्रतया धात्वर्थः इति मत्वा तस्मात् कर्तृवाच्ये कर्मवाच्ये पृथक् पृथक् शाब्दबोधः इत्यङ्गीकुर्वन्ति। इदानीन्तावत् प्रथमं कर्तृप्रत्ययस्थले शाब्दबोधः विचार्यते। "सुप आत्मनः क्यच्" इति सूत्रस्थभाष्यमवलम्ब्य कर्तृप्रत्ययस्थले **व्यापारार्थमुख्यविशेष्यक-शाब्दबोधं**, कर्मवच्ये **फलमुख्यविशेष्यकशब्दबोधं** स्वीकुर्वन्ति नव्याः। तस्मात् "देवदत्तः ओदनं पचति" **"देवदत्ताभिन्नैककर्तृकः ओदनकर्मकः वर्तमानकालिकः विक्लित्यनुकूलव्यापारः"** इत्ययं शाब्दबोधः भवति नव्यानुसारेण।

कर्मवाच्ये फलस्य प्राधान्यात्, "देवदत्तेन ओदनः पच्यते" इत्यस्य **देवदत्तवृत्ति-वर्तमानकालिकव्यापारजन्याविक्लित्तिरिति** शाब्दबोधमङ्गीकुर्वन्ति नव्यशाब्दिकाः। प्राचीनास्तु उभयत्र व्यापारमुख्यविशेष्यक एव शाब्दबोधमङ्गीकुर्वन्ति। तिङर्थः-कर्तृकर्म-सङ्ख्याकालाः। तत्र कर्तृकर्मणी फलव्यापरयोर्विशेषणे। साङ्ख्या कर्तृप्रत्यये कर्तरि कर्मप्रत्यये कर्मणि, समानप्रत्ययोपात्तत्वात्। कालस्तु व्यापारे विशेषणम्।

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली,शब्दखण्डः
2. वैयाकरणभूषणसारः,धात्वर्थनिर्णयः
3. वैयाकरणभूषणसारः,धात्वर्थनिर्णयः
4. अष्टाध्यायी 3.1.8

व्यापारत्वम् नाम- फलप्रयोजकक्रियात्वं व्यापारत्वम्। तज्जन्यत्वे सति तज्जन्य-जनकत्वं व्यापारत्वम्। पदान्तरसमभिव्याहारप्रयोज्य-साध्यत्वप्रकारक-प्रतीतिविषयत्वं व्यापारत्वम्। अत एव उक्तम्-

असत्त्वभूतभावस्तु तिङ्पदेनाभिधीयते।
सत्त्वस्वभावमापन्ना व्यक्तिर्नामभिरूच्यते।।[1]

अत्र सर्वत्र फलत्वम् नाम अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वमिति यावत्। तदुक्तं हरिणा-

यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यार्थमारभ्यन्ते पचादयः।
तत्प्रधानं फलं तेषां न लाभादिप्रयोजनम्।।[2]

कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्धातुजन्यशाब्दबोधीयधात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपित-प्रकरताश्रयत्वे सति तद्धातुवाच्यत्वं फलत्वम्। धातुनिष्ठवृत्तिविशिष्टत्वम्-वैशिष्ट्यञ्च-स्वज्ञानजन्योपस्थितिविषयत्वम्, स्वज्ञानजन्योपस्थितिविषयव्यापारविशिष्टत्वम्, इत्युभय-सम्बन्धेन, व्यापारविशिष्टत्वञ्च स्वजन्यत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वम्, स्वप्रयोज्यत्वप्रकारक-प्रतीतिविषयत्व, एतदन्यतरसम्बन्धेन। यद्यपि व्यापारः क्रियापर्यायवाचकः तथापि उभयोरस्ति कश्चन मौलिकः भेदः। स त्वयमेव यत् क्रियाशब्दः नानव्यापारसमूहवाचकः। तस्मात् एका क्रिया नानावान्तरव्यापारवाचिकाः। अतः पाकक्रियायां युक्तो जनः जलानयनकाले फूत्करादिसमयेऽपि सर्वत्र पाकमेव करोमि वदति। क्रिया एका एव तथापि अयं बुद्धिकल्पित एव भेदः। उक्तञ्च-

गुणैभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते।। इति।।[3]

शाब्दिकानां शाब्दबोधबिषयकप्रत्ययानामिह विस्तरेण विवेचनमुपस्थाप्यते-

व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधः-

वैयाकरणास्तावद् एवं मन्यन्ते-कारकाणां क्रियायामन्वय इत्यनुभवात् क्रियापदे प्रायः सुबन्तानामन्वयः इति ज्ञायते। "नीलोत्पलमानयती"त्यत्र समासार्थस्य नीलत्व-विशिष्टोत्पलस्य द्वितीयार्थे कर्मणि। तस्य धात्वर्थे आनयनेऽन्वय इति नीलत्वविशिष्टोत्पल-कर्मकमानयनमिति शाब्दबोधः भवति।

तथैव "नीलमुत्पलमानये" इति व्यासस्थले नीलकर्मकमानयनम्, उत्पलकर्म-कमानयनम्, इति पृथक् पृथक् बोधस्य अनुभवाद् द्विः कर्मत्वभानम् विहाय समानाधिकरणयोः नीलोत्पलपदयोः नीलत्वविशिष्टोत्पलरूपैकार्थपरत्वम् अङ्गीकृत्य तस्य

1. वाक्यपदीयम्-2/115
2. वैयाकरणभूषणसारः(दर्पणटीका),धात्वर्थनिर्णयः
3. वैयाकरणभूषणसारः,धात्वर्थनिर्णयः

धात्वर्थे आनयने द्वितीयार्थकर्मत्वद्वारा अन्वयस्वीकारात् नीलत्वविशिष्टोत्पलकर्मक-मानयनमित्येव शाब्दबोधः। एवं च सविशेषणानां विशेषरहितानां वा कर्त्रातिरिक्तानां सर्वेषां कारकाणां धात्वर्थक्रियान्वयस्य नैयायिकादिभिरपि स्वीकृतत्वात् प्रथमान्तार्थस्य कर्तृकारकस्यापि तत्रैवान्वयः उचितः समानन्यायात् तथा च "देवदत्तः नीलोत्पलमानयती"त्यत्र द्वितीयार्थः कर्म। तत्र प्रकृत्यर्थस्य अभेदसम्बन्धेन अन्वयः। कर्मणः धात्वर्थेऽन्वयः। तिङः कर्ता अर्थः। तत्र अभेदसम्बन्धेन प्रथमान्तार्थस्य देवदस्य अन्वयः। कर्तुरपि धात्वर्थे आनयनेऽन्वयः। तथा च नीलत्वविशिष्टोत्पलाभिन्नकर्मकं देवदत्ताऽभिन्नकर्तृकं चानयनमिति धात्वर्थमुख्यविशेष्यान्वयबोधो भवति। अत्र विषये प्रमानमुपपत्तिः प्रतिपादयति -निरुक्तकारः "चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च"[1] इत्युपक्रम्य "सत्त्वप्रधानानि नामानि"[2] इति नामलक्षणम् "भावप्रधानमाख्यातम्"[3] इति आख्यातलक्षणम् च निरूपयति।

प्रकरणमिदं प्रकारान्तरेण एवमप्युपस्थापयितुं शक्यते-

इति कारिकोक्तप्रकारेण जायते। तत्र व्याकरणस्योपयोगः नितरां साधकः। यतोहि धातुप्रकृत्यादीनां शक्तिग्रहो व्याकरणाज्जायते। सति बाधके क्वचित् व्याकरणात् गृहीता शक्तिः त्यज्यते। यथा- वैयाकरणाः **आख्यातस्य=तिङः, कर्तरि शक्तिं स्वीकुर्वन्ति।** तन्न नैयायिकैरङ्गीक्रियते। यतो हि तेषां मतेन "चैत्रः पचति" इत्यादौ कर्त्रा सह चैत्रस्य अभेदेनान्वयो भवति। तत्र गौरवं भवति। अयमाशयो वर्तते यत्-

"लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः"[4] इति सूत्रे कर्तरि कृत् इत्यतः कर्तरि इति अनुवर्तते। तेन सकर्मकेभ्यो धातुभ्यः लकाराः कर्तृवाचकाः कर्मवाचकाश्च भवन्ति। अकर्मकेभ्यो धातुभ्यश्च लकाराःकर्तृवाचकाः भाववाचकाश्च भवन्ति। भाववाचकत्वं नाम निरर्थकत्वमेव अर्थात् तिङादिप्रत्ययानां कर्तृकर्मभाववाचकत्वम्। एवं तत्र तत्र कर्त्रादौ तिङादीनां शक्तिग्रहः।

विभक्तीनां सुबन्तानाञ्च- द्वितीयातृतीयासप्तमीनाम् आश्रयः अर्थः। एवमेतासां विभक्तीनाम् आश्रयेऽर्थे शक्तिग्रहः। **"क्रियाजन्यफलाश्रयः कर्म"** इत्यत्र द्वितीयायाः शक्तिग्रहः। धात्वर्थः व्यापारः फलञ्चेति। "क्रियाजन्यफलाश्रयः कर्म"। **धात्वर्थव्यापाराश्रयाः कर्ता** इति कर्तुः, कर्तरि तृतीयायाःसप्तम्याश्च आश्रयोऽर्थः इति।

सप्तम्याः आश्रयः आधारोऽधिकरणमित्यनेन अधिकरणम्, तत्राश्रये शक्तिग्रहः, पञ्चम्याः अवधौ अर्थे शक्तिग्रहः, चतुर्थ्याःउद्देश्ये सम्प्रदाने शक्तिग्रहः, षष्ठ्याश्च

---

1. निरुक्त, प्रथमोऽध्यायः
2. निरुक्त, प्रथमोऽध्यायः
3. निरुक्त, प्रथमोऽध्यायः
4. अष्टाध्यायी 3.4.69

सम्बन्धेऽर्थे शक्तिग्रहः इति विभक्तीनां शक्तिरेवार्थोऽस्ति। स्वादिप्रत्ययानाम् एकत्वद्वित्वबहुत्वेषु शक्तिः। समासादिवृत्तीनां च प्रातिपदिकत्वेन तत्रापि शक्तिग्रहः। इत्थम्, वैयाकरणनये चैत्रस्तण्डुलं पचति चैत्रेण तण्डुलः पच्यते, मैत्रः तिष्ठति, मैत्रेण स्थीयते इत्यादिषु उदाहरणेषु क्रमशः तिपः शप्प्रत्ययसमभिव्याहारे कर्ता इत्यर्थः। पच्यते इत्यत्र तिङः यक्समभिव्याहारे कर्ता इत्यर्थः। तिष्ठति इत्यत्र तिङः कर्ता इत्यर्थः। स्थीयते इत्यत्र तिङः भावर्थकत्वात् निरर्थकत्वं धातोरेवार्थस्य कथनात् सिद्ध्यति। आख्यातार्थयोः कर्तृकर्मणोः प्रथमान्तार्थेन सह अन्वयं विधाय धात्वर्थव्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधं वैयाकरणाः कथयन्ति। तिङ्पदार्थश्च कर्ता कर्म संख्या कालश्च। धात्वर्थः फलं व्यापारश्च। तिङ्प्रत्यार्थस्य कर्तुः(कर्तरिप्रत्यये) संख्यायाश्च चैत्रेण सह अभेदान्वयः, कालश्च व्यापारे विशेषणत्वेनान्वेति।कर्माख्याते तिङर्थस्य कर्मणः संख्यायाश्च तण्डुलेन अन्वयः। इत्यथम्-

चैत्रः तण्डुलं पचतीत्यस्य **चैत्राभिन्नककर्तृकः तण्डुलभिन्नकर्मकः वर्तमान-कालिकः विक्लित्यनुकूलव्यापारः** इति शाब्दबोधः।

चैत्रेण तण्डुलः पच्यते इत्यस्य **चैत्राभिन्नैककर्तृनिष्ठव्यापारजन्या तण्डुला-भिन्नैकत्वावच्छिन्नाश्रयनिष्ठावर्तमान्कालिका विक्लित्तिः** इति शाब्दबोधे भवति।

चैत्रस्तिष्ठति -चैत्रेण स्थीयते इत्यनयोः **"चैत्राभिन्नैककर्तृका स्थितिः"** इत्येव शाब्दबोधः।

निगमनम्- वैयाकरणानां नैयायिकानाञ्च शाब्दबोधप्रक्रिया परस्परं सायुज्यैव पूर्यते। मुक्तावलीकारानुसारेण शाब्दबोधफलप्राप्तये साधनव्यापारफलञ्चेति आवश्यकम्। तत्र साधनव्याभ्यामन्तरेण नैव प्राप्तुमहर्ति फलम्। साधनं तु पदज्ञानं व्यापारञ्च पदार्थज्ञानं स्मरणं वा। प्रथमस्तावत् पदज्ञानं विना व्याकरणेन न सिध्यति। व्याकरणेऽपि पदम् "समर्थः पदविधिः" परिभाषाबलेनैव सिध्यति। तत्र समर्थानां पदानामेव विधिर्भवति। समर्थेन सङ्गतार्थता, संबद्धार्थता, संश्लिष्टार्थता परिलक्ष्यते। अथ च समर्थबलेनैव तिङ्गत्व सुपत्वञ्चापि सिध्यति। तत्रापि वाक्यार्थबोधे तिङ्गर्थस्तुविशेषतयोक्तम्। वैयाकरणस्तु सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे इति राद्धान्तेन बलेन शब्दार्थस्तु नित्यं स्वीकुर्वन्ति। पुनरपि वाक्यार्थबोधे सम्पूर्ण वाक्ये एव पदानि सार्थकतां लभते।

तत्र व्याकरणस्योपयोगः नितरां साधकः। यतोहि धातुप्रकृत्यादीनां शक्तिग्रहो व्याकरणाज्जायते। सति बाधके क्वचित् व्याकरणात् गृहीता शक्तिः त्यज्यते। यथा - वैयाकरणाः आख्यातस्य=तिङः, कर्तरि शक्तिं स्वीकुर्वन्ति तन्न नैयायिकैरङ्गीक्रियते।

आकरग्रन्थाः -

1. भर्तृहरि, (सं.-रघुनाथ शर्मा) वाक्यपदीयम्, 1980, वाराणसी, संपूर्णानन्दसंस्कृत-विश्वविद्यालयः।
2. पतञ्जलि, (सं. भार्गव शास्त्री जोशी),व्याकरण-महाभाष्यम्, 1991, दिल्ली, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।
3. पाणिनि, अष्टाध्यायी, 2003, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन।
4. गौतम, न्यायदर्शनम्, 1985, दिल्ली, मुंशीराम मनोहरदास पब्लिशर्स।
5. विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्य (सं. श्रीशङ्कररामशास्त्री), न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (प्रभामञ्जूषासहिता), 1988, दिल्ली, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।
6. विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्य (सं. श्रीआत्मराम शर्मा), न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (दिनकरीरामरुद्रीसहिता), 2012, दिल्ली, राष्टीय संस्कृत संस्थान।
7. कौण्डभट्ट, वैयाकरणभूषणसारः, 2012, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
8. अन्नम्भट्ट, तर्कसंग्रहः, 2015, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
9. यास्क, निरुक्त, 2003, अजमेर, परोपकारिणी सभा।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 18 (126-134) January-June 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Dayānanda Saraswatī-The First Discoveror of The Right Clue

- Gautam Patel

Dayānanda set to the study of *Vedic* literature with a firm faith and deeply-rooted devotion in the greatness of *Hinduism.* He started a crusade in defence of *Hinduism* form the *Christian* attacks. He was destined to be the fountain head of a new force. He had the originality of his own. He studied original *Vedic* scriptures, rejected the traditional schools altogether. He successfully freed himself from all the shackles and traced the sacred literature of ancient India to its very source. He devoted his whole life to the study of Sanskrit and its religious works. Swamiji's chagrin for idol worship in *Hinduism* was in the beginning a result of his intuition, but later on he supported his views with the help of his deep and extensive study of the *Sanskrit scriptures.*

The time during which Dayānand Saraswatī lived was the worst in the history of *Hinduism.* The white *Christian* missionaries were engaged in uprooting the Hindu faith by mercilessly criticising in the open the legendary actions of Lord Krishna. The Indians had no leader who could successfully fight against their arguments. They reaped a cheap harvest in the territories successfully conqured or occupied by them. The *Hindus* were dwindled morally. Many of them started giving up Śikhā **(शिखा)** and *Sutra* **(सूत्र)** the very signs of *Hinduism.*

The situation demanded a reformer with true *Hindu* spirit. In such crucial time came Swāmī Dayānand.

In the beginning of his life the young Dayānand wandered searching for the true spirit of *Hinduism.* But the famous custodians of the *Hindu Dharma* in those days were unaware of the real spirit of their own faith. He was disappointed and his yearning was intense. When he came in contact of a blind saint Swāmī Virajānand his happiness knew no bounds. He became his disciple and learnt the *Vedic Dharma* from him. He was convinced about the greatness of the *Vedic literature* and he proclaimed *"Back to the Vedas"* as he was convinced only that *the*

pristine purity of the Vedic religion could bring the salvation. Hence he preached the Vedas through out his life.

Dayānanda Saraswatī was a man of *tapasyā.* His hard labour, unprecedented self-control and unparallaled will-power were the main founding stones on which the temple of the *success of his life was built.* He loved truth-the truth of the scriptures, especially of the *Vedas* which was dear to him than his own life. Hence he fought through out his life for the purity of *Hinduism* and strove for the revival of *Vedic* culture. In those days he was he first modern Indian who claimed that the *Vedic* religion was the oldest, the best and the most perfect of the religion. He proved beyond doubt that all other religions of the Indian soild had sprung from the *Vedic* one.

From his *Vedic* studies, Dayānanda was convinced that there was no idol worship in the *Vedas.* The idol worship came after the *Buddhism* or the Purāṇic religion. Hence he has strongly critisized the idol worship on the *Vedic* background. In the same way, he was against untouchability as it was never found in the *Vedic mantras* or in the *Vedic* society. He traced the caste system to its *Vedic* orgin. But the *Varṇas* mentioned in the Vedas were only the natural divisions of labour in the society on the basis of their merits and funcions- **गुणकर्मविभागशः** as said in the Gītā. The thousands of sub-divisions of the caste had no trace in the Vedic literature. As they were later developments, the follower of the Vedic religion should not honour them. These sub-divisions based on the birth-factor had entered in decideing the caste of a person rather than his merits and functions. Hence, Dayānanda emphasized only the four fold of division of the castes viz, *Brāhmiṇs, Kṣatriyas, Vaiṣyas* and *Śūdras*. There was a difference between Dayānanda and other reformers. Others were of the opinion to abolish he caste system totally, while dayanand was advising to abolish all the sub-castes and to reshuffle the four divisions, as accepted by the *Vedas, on the basis of merits and functions.*

The second important interpretation offered by Swami Dayānand ji on the basis of the *Vedas* was the establishment of the right of a woman to have a sacred thread and the study of the *Veda* which were denied in the middle age of *Hinduism* (i.e. the degenerated period of *Hinduism*). He quoted from शतपथब्राह्मण-अथ च इच्छेत् दुहिता मे पण्डिता जायते सर्वमायुरियात्। (शतपथ 14-2-4-16) i.e. *whosoever desires that his daughter be learned and attain full life etc.*

Swami ji has written in his सत्यार्थप्रकाश which says the *twice born (f{t) should perform the sacred thread ceremony of their children in the begining of the 9th year and send them to the teacher's residence i.e. they should send their sons and daughters to the institution which is equipped with scholarly masters and mistresses.* Another *Mantra* of the Veda says ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् (अथर्व 11.5.18) i.e. *let the girl may obtain a youthful husband after undergoing Brahmacharya i.e. student-period.* This proves beyond doubt that a girl was admitted to *aśrama* for study along with a boy.

In the degenerated *Hinduism,* the Vedas were made the monopoly of only the *Brahmins.* Swāmī Dayānanda preached that the *Vedas* were not the monoploy of a certain privileged persons in the society, but every human being has a right to receive the knowledge of the Vedas irrespective of his caste, creed or nation. *Just as the sun's light is meant for all, in the same manner the Vedic light could be enjoyed by every one under the Sun.*

Dayānanda being the staunch admirer of the *Vedas* and the *Vedic* ideologies, has declared the Purāṇic literature as spurious. On being asked once, he said, *"I admit that there is much that is valuable in them (Purāṇas) but just as a grain of poison is sufficient to vitiate serveral pounds of food-stuff, similarly the poison of mythology has vitiated the whole puranic literature."*

Similarly Dayānanda believed that commentators like Sāyaṇa, Mahīdhara, Uvaṭa etc. have interpreted the Vedas in such a way that the original meaning of the Vedas was shrouded in darkness. Normally आधिदैविक, आध्यात्मिक and अधियज्ञ these three types of meanings are possible but these commentators have only given the meaning अधियज्ञ i.e. refering to only यज्ञ।

In fact, Dayānanda's main endeavour was to provide the world with the divine knowledge of the Vedas in its pristine purity. He accepted the dictum of मनु that सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति. *Hence it was his firm belief that whatever was good, grand or beneficial to the human race was tracable to the Vedas.* However, as the Gaṅga in her purest form descending from the white snows of Himālayas gets mixed in its downward course with the muddy streamlets that pollute her, likewise the stream of the Divine knowledge springing from the lofty *Vedas* had become mixed with the

stramlets of human error and got polluted. The commentatiors and the interpreters grossly misinterpreted the *Vedas* and instertd as well as superimposed their false notions or petty principles in the Vedas.

In fact, the Vedic Scholarship ceased from the days of Yāska (the author of *Nirukta*). On the otherhand, the works of Sāyaṇa, Mahidhara Uvaṭa, Bhaṭṭ Bhāskar etc. were very far away from the age of the *Vedas*. Of several Vedic traditions only the Yajña tradition survived while the others were lost. Dayānanda rejected the existence of history in the *Vedas* on the ground that if the history (i.e. the stories of persons, seers, kings or common man) exist in the *Vedas*, it would mean that the *Vedas* were written the commemorate those persons or events. But according to our tradition, the *Vedas* were the first creation of God. It that is so, how could something that happened in future could find a place in the Vedas which were prior to them? So, according to Dayānanda, the names like जमदग्नि is चक्षु and कश्यप is प्राण on the authority of शतपथब्राह्मण, चक्षुर्वै जमदग्निः (21.8.9) or कश्यपो वै कूर्मः, प्राणो वै कूर्मः। (21.7.5) and so on. While quoting the ancient Brahmanical texts he refuted interpretation offered by Mahīdhara or Sāyaṇa.

As he did not accepted the idolworship, even the word प्रतिमा in the references like प्रतिमानां च भेदकः, प्रतिमान meant a measure to weight and in देवताऽभ्यर्चनं, देवतानां च कुत्सदनम् or देवतायतनानि च etc. the देवता stands for विद्वांसः on the authority of a sentence from Brāhmaṇa विद्वांसो वै देवाः।

In his ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, he has dealt in deatail with numerous subjects such as वेदोत्पत्तिः, वेदनित्यत्वविचारः, वेदविषयविचारः, वेदसंज्ञाविचारः, वेदोक्तधर्मविचारः, सृष्टिविद्याविचारः, प्रार्थना-याचना-समर्पणविचारः, उपासना, मुक्तिः, नौविमानादिविद्या, नियोगः, राजधर्मः, ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासाश्रमविचाराः, पञ्चमहायज्ञाः, ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः, अधिकारानधिकारः पठनपाठने, भाष्यकरण-शंका-समाधान etc. He has said in the end.

वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका कामदा मान्यहेतुः
संक्षेपाद् भूमिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता।
सम्पूर्णाकार्यर्थेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः
पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम्॥

and he has given a **प्रतिज्ञा** for his commentary.

मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च।
पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद्बोध्या विचक्षणैः।।

The commentary of Dayānanda Saraswatī is based on the *Nirukta of Yāska.* The words in the Vedas are not based on Rūḍhi but they are Yaugic in nature. Hence every word has the capacity to provide several meanings. Indra according to the Rūḍhi, is none but the king of the heaven. But if we adopt the *Nirukta* method, the word Indra could be derived from the root **√इदि परमैश्वर्ये** Hence, because of Aiśvarya, Indra would mean paramātmā **(परमात्मा)**, or the Sun in the sky or the king on the earth. The Nirukta has said: **एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम्, अथ यान्येकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः।** Even the Mahābhāṣya of Patanjali maintains **बह्वर्थाः धातवो भवन्ति। (महा 1-3-1.)** Thus **गौ** is one word but its meaning could be *speech, cow, earth, ray* and so on.

Dayānanda has never accepted पशुहिंसा killing of animals in Yajña. According to him, the word अध्वर is the proof of it. अध्वर means Sacrifice-यज्ञ and according to the *Nirukta*-अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः and this word अध्वर is used in the Vedas several times. Those who favoured पशुहिंसा have often quoted a sentence from the Yajurveda: प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते। They interprete the word आलभते। They interprete the word आलभते as हिंसा. But this word is derived from आङ्+लभ् which means *to touch and not to kill; see-manusmṛtī.*

वर्जयेत्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्।।

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च।।- मनु. 2.177,178

Here स्त्रीणाम् आलम्भम् means the touch of a woman.

Similarly there is the word अवदान which is derived from root दो अवखण्डने to means हिंसा but it could be derived from देञ् रक्षणे to means protect. The same meaning is found in the words of Yājñavalkya in the *Śatapathabrāhmaṇa:* तदेनांस्तवदयते तस्माद्यत्किंचनाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम। (शत. 1-7)

we come across words like अश्वमेध, गोमेध, नरमेध, पशुमेध etc. In the Saṁhitā only the word अश्वमेध is found. The word मेध could be

derived from a root मेधृ meaning मेधासंगमनयोर्हिसायाम्. Here to increase pure intelligence (मेधा), *to bring unity* (संगमन) and *violence* (हिंसा) are the three meanings that are present. Why to cling to the last meaning हिंसा and ignore the other two? In fact the नृयज्ञ according to the *Manusmṛti*, is अतिथिपूजनम् Similarly अश्व in the अश्वमेध means राष्ट्रम् or वीर्यं राष्ट्रं वा अश्वमेधः। वीर्यं वा अश्वः। Thus the अश्वमेध should mean uniting the nation (मेधृ–संगतिकरण) In the Mahābhārata, we come across the description of the अश्वमेध where it is specifically written न तत्र पशुघातोऽभूत्। (महा.शांति. 336) and आधिदैविक truths are also possible from it. The well-known Western professor Max Muller too was impressed by the interpretation of Dayānanda and wrote in his *Biographical Essays*-

"According to Swāmi Dayānanda, everything contained in the Vedas was only the perfect truth. He went one step further and by their interpretations succedded in persuading others that everything worth-knowing-even the most recent inventions of modern science were alluded to in the Vedas. Steam-engines, electricity, telegraphy and wireless microgram were shown to have been konwn atleast in germs to the poets of Vedas."

While on the other hand Śrī Aurobindo has paid a great tribute to Swāmi Dayānanda Saraswatī in his essay 'Dayānanda and the Veda'-

"There is nothing fantastic in Dayānand's idea that Veda contains truths of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that Veda contains other truths of a science the modern world does not at all possess and in that case Dayānanda has rather under related than overstated the depth and range of the Vedic wisdom."

- Bankim-Tilak, Dayananda

Śrī Aurobindo has said in the same essay-

"In the matter of Vedic interpretations I am convinced that whatever may be the final complete interpretation, Dayānanda will be honoured as the first discoverer of the right clues. Amidst the chaos and obscurity of old ignorance and age-long misunderstanding his was the eye of direct vision that pierced to the truth and fastened on that which was essential. He has found the keys of the doors that time had closed and sent as under the seals of the imprisoned fountains."

In the Śānti Parvan of the Mahābhārata is described as-

अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागान्नो हन्तुमर्हथ।
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्यते वै पशुः।। –महा. शान्ति. 335

Here अज does not mean goat but जायते इति जः न जः अजः। which means that the बीज-seeds which do not grow again are used to pour in the fire at the time of the sacrifice. There was no अजहिंसा. In the Vedas, the cow is referred to as अघ्न्या-not worthy to be killed. How could then any one kill her and sacrifice her? In the Atharvaveda, it is written: धाना धेनुरभवत् वत्सोऽस्यास्तिलोऽभवत् means the corns became the cow and her calf became तिल (अथर्व 18-4-32).

It is further said in the Atharvaveda-

अश्वाः कणाः गावस्तण्डुला मशकास्तुषा (11-3-5)

श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् (11-3-7)

The grains of rice are the अश्व the तण्डुल are the गौः, तुषाः are मशकः black portion is मांस and red is blood. Thus if the Vedic words are understood in their right perspective and interpreted in the proper context, then no misunderstanding would be possible. Infact, the महाभारत has understood the whole situation properly. It is stated there.

श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयो पशुः।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः।। –महा. अनु. 115-47

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्।। –महा. शान्ति. 265-10

At times the foreign scholars have not only misinterpreted the *Vedas* but whatever was coming as an evidence against to their belief have been proclaimed that genuine Vedic portion to be interpoleted. Max Muller believed in the theory of evolution of the Gods and hence he gave a thought of Henotheism. The अस्य वामीयसूक्त (Ṛ.V I-164) is favouring the thought of Monotheism hence these so called intelligent scholars of the *West* have declared it as After thought and a later addition to the Ṛgvedic text. Shṛī Aurobindo has strongly opposed to such types of behaviour. He maintains, "we are aware how modern scholars twist away from the evidence. This hymn (Ṛ.V 1-164-46) they say. was the later production;

this loftier idea which is expressed with so clear a force rose up somehow in the later Āryans mind or was borrowed by those ignorant fire worshippers, sun-worshippers, sky-worshippers from their cultured and philosophical Dravidian enemies. But throughout the Veda we have conformatory hymns and expressions. But why should not the foundation of Vedic thought be natural monotheism rather than this new-fangled monstrosity of henotheism? Well, becauseprimitive barbarions could not possibly have risen to such a high conception and if you allow them to have so risen, you imperil your theory of the evolutionary stages of the human development and you destroy your whole idea about the sense of the Vedic hymns and their place in the history of mankind. Truth must hide herself, commonsense disappear from the field so that a theroy may flourish. I ask, in this point and it is the fundamental point, who deals most straight forwordly with the text, Dayānanda or the Western scholars?" (Bankim-Tilak-Dayanand.P-38-39) Dr. M.P. Pandit, writes in his Mystic Approach to the Veda and Upaniṣad,-

"By the time of the last century the call to re-establish the Vedas on the sovereign pedestal for presiding over an assured and inevitable resurgence to the national life, found a vigorous expression in the stal wart champion of ancient culture Swāmi Dayānanda Saraswatī. He called for a bold dispersal of the fog of half-backed theories of alien prejudice that had settled round the luminous Vedas and enjoined upon every son of the soil to look straight into the force of the truth and recognise there what was revealed scriptures. He pointed out with unanswerable proof how the concept of one deity stoodout toweringly in the hymns with all other gods as named for its many qualities and powers."

According to Dayānanda the Vedas belong to the विश्ववारा प्रथमा संस्कृति *and they are the supporting pillars of the Indian cultural thought. Its every Ṛcā is capable of providing various meanings revealing the spiritual secrets available in it. Swāmi Dayānanda Saraswatī is certainly one of the most powerful personalities who have shaped modern India and are responsible for its moral recognition and religious revival.*

Great poet Rabindranath Tagore has paid a great tribute to Swāmiji and said *"I offer my homage of veneration to Swāmi Dayānanda the great path maker in the modern India who though bewildering tangles of creeds and practices- the dense under-growth of the degenerate days our*

country cleared a straight path that was ment to lead the Hindus to a simple and rational life of devotion to God and service for man."

Śrī Aurobindo Ghosh said;

"He was a very soldier of Light, a warior on God's world, a sculptor of man and institutions, a bold and rugged victor of the difficulties which matter presents to spirit. And the whole sums itself upto me in a powerful impression of spiritual practicality."

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 18 (135-144) January-June 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Contribution of Western Scholars to Vedic Interpretation: An Analysis

Professor Shashi Tiwari

Formerly at Maitreyi College, University Of Delhi, New Delhi
President, Wider Association for Vedic Studies (WAVES)

The word 'Veda' does not refer to one single literary work, but indicates a whole literature, which has been handed down from one generation to another generation by verbal transmission. Veda is the name given to the Mantras, Brāhmaṇas, Āraṇyakas and Upaniṣads. Among them Mantra-part is the main part of the Veda, compiled into four books named as four Vedas- Ṛgveda, Yajurveda, Sāmaveda, and Atharvaveda. Vedas reveal deep knowledge and truth in its most difficult language and symbolic style. They had been seen and heard in the inner experience of inspired and semi-divine thinkers 'the *ṛṣis*'. The sublimity in conceptual arena as well as the structural phenomena has necessitated the origin of Vedic interpretation. The Vedic interpretation is regarded the foundation of Indian thought. It has a glorious tradition of at least five thousand years. Several interpretations presented by ancient and modern Indian commentators, as well as by medieval and modern western scholars illustrate the importance and depth of the meaning of Vedic verses and texts. There are many direct or indirect theories available today for interpretation of Vedas among intellectuals.

A group of ancient Indian interpreters, like Sākalya, Ātreya, Narāyaṇa, Uvaṭa, Mahīdhara, Sāyaṇa etc. wrote commentaries on Vedic Texts and related Vedic-concepts with mythology and sacrificial ceremonies. Ancient Indian tradition of interpretation reaches its acme in the commentary of Sayana who has taken all aspects of meaning, in order to justify his ritualistic and sacrificial interpretation. Among modern theories, Vedic interpretation of Shri Aurobindo and Swami Dayananda Sarasvati can be called *ādhyātmic* or spiritual interpretation, though they basically differ in nature. Besides this, some other methods adopted by scholars are - symbolic interpretation, scientific interpretation, and comparative interpretation.

I. Western Method of Vedic Interpretation

According to a number of western scholars of Europe during last three centuries 'historical method' or 'comparative method' should be adopted for the interpretation of Vedic verses and texts. The base of this theory is linguistic unity of many ancient languages such as Greek, Latin, German, Slavonic, Persian, Avestan, Gothic, Old Irish, and Vedic Sanskrit. These ancient languages have many similarities of structure and meanings. Looking at this point, they assumed a family of 'Indo-European language.' Accordingly, there was a time when different people were living together and were speaking same language; later due to certain reasons they migrated and got separated but took cultural similarities altogether. So to understand the meaning of ancient scriptures called Vedas; one should study rituals, myths and cultural traditions of other ancient civilizations as well. Comparative religion and mythology, comparative linguistics and semantic should be considered as the foundation of Vedic interpretation. Few Vedic words having doubtful meanings could be explained etymologically in comparison with the similar words found in other ancient languages. This comparative or historical method for understanding meaning of Vedic verses had a scientific and rational background so European scholars adopted it widely. It is also important to note that few scholars opposed this method, and emphasized on the significance to be acquainted with the early Indian traditional ways and ancient Indian commentaries for interpreting Vedic concepts, deities, meaning of verses and words; if not totally, than partially.

Western scholars paid immense attention on this deep knowledge from eighteenth century onward and tried to understand these texts in context of history, myths, customs and popular religious notions of the Vedic people. Many western scholars of different countries, especially of England, Germany, Holland, France, and Italy took great effort for understanding the adequate shades of meaning of the Vedic Mantras and Vedic texts. They edited, translated, explained, analyzed, published several texts and prepared huge indexes in reference to Vedic literature. A number of manuscripts were collected, edited, corrected and made readable. They did commendable work in the field of Vedic interpretation through writing translation, or commentary. They published books on language, grammar, religion, philosophy, ritual, history, mythology and culture of the Vedas. Here an attempt has been made to give a brief account of some important western scholars who worked in the field of Vedic interpretation and

research during last three centuries.

II. Western Scholars of Vedic Studies

1. Vedic Studies by English Scholars

H. T. Colebrook, born in London on 1765, is adorned with the rare distinction of being the first western scholar ever to write about Vedas. For the first time, in the history of Indology, Colebrooke published his essay *'On the Vedas, or sacred writings of the Hindus'* in 1805 in the eighth volume of the *Asiatic Researches*. In this paper he referred many important Vedic texts such as Aitareya Brāhmaṇa, S ṇkhyāyana Brāhmaṇa, S tapatha Brāhmaṇa, had spoken about *ṛṣis*, and had talked about the manuscripts collected by him of the Ṛgveda ; hence it arose curiosity in the western world to know more about Vedas. He collected huge number of Sanskrit manuscripts. This gave an impetus to further Vedic researches and created an interest in the minds of the later generations who started to know Vedas through English or other European languages.

J. Stevenson, British Indologist brought out first edition of Sāmaveda in 1843, even when F. Max Muller was yet to publish his monumental edition of the Ṛgveda. His complete translation of Sāmaveda in English was brought six years before the publication of Ṛgveda. He had a very strong edifice of Sāmavedic studies.

H. H. Wilson (b.London, 1786-1860) had Indologist Colebrooke as his teacher. He served many institutions in India and also worked as a Sanskrit scholar, writer and editor of several Sanskrit books. He was the president of the Royal Asiatic Society for 23 years. He left Culcutta in 1832 to join as the Boden Professor in Oxford. The most distinguished and path-breaking publication of Wilson is his complete English translation of the Ṛgveda which is the first of its kind. It gave new twist to the study of Rigveda. He took Max Muller's edition of Ṛgveda as a safe authority in this regards. Secondly, he followed Sayana's commentary which is again a faithful commentary. Wilson is known in the field of Vedic interpretation as a follower of great scholar Sāyaṇa of fourteenth century A.D. who was Prime Minister at the court of the King of Vijaynagar, now in the Indian state of Karnataka. It is a prose translation with notes. Wilson has emphasized that Indian traditions alone should be the basis for understanding the meanings of the Vedas. Views of earlier European scholars about Vedic interpretations were not acceptable to him to some

extent and, therefore, he had translated the whole Saṁhitā according to the Sāyaṇa-bhāṣya.

Ralph Thomas Hotchkin Griffith (1826-1906), a well-known English scholar of the Veda, Sanskrit and Indology, was son of Rev R. C. Griffith (Chaplain to the Marquis of Bath 1830). He worked in India as the Principal of Kashi Government Sanskrit College, Varanasi from 1861 to 1878. R.T.H. Griffith translated major Vedic scriptures into English. He also produced English translations of some Sanskrit texts, including a verse version of the Ramāyaṇa, and the Kumāra-Sambhava of Kalidāsa. His major works are: The Rāmāyaṇa of Vālmīki (published 1870), Hymns of the Ṛgveda (published 1889), Hymns of the Sāmaveda (published 1893), Hymns of the Atharvaveda (published 1896), and the Texts of the White Yajurveda (published 1899). He has translated all the four Vedas in the poetic form. R. T. H. Griffith is the last English Commentator of the Ṛgveda after H.H. Wilson who has translated complete Ṛk-saṁhitā. Griffith was the student of H.H. Wilson. He followed the *Bhāṣya* of Sāyaṇa as well as the translation done by Wilson. His outlook about the Vedic interpretation was moderate which makes his work of immense value. In the preface of his Ṛgvedic Translation, Griffith has mentioned, "My translation, is partly based on the commentary of Sāyaṇa, corrected and regulated by rational probability, context and inter comparison of similar words and passages." On the source of his translation he has written, "My translation, which follows the text of Max Muller's splendid six-volume edition, is partly based on the work of the great scholiast Sāyaṇa. Sāyaṇa's commentary has been consulted and carefully considered for the general sense of every verse and for the meaning of every word, and his interpretation has been followed whenever it seemed rational, and consistent with the context, and with other passages in which the same word or words occur." It means Griffith was not taking Sāyaṇa's opinion word by word. This is the reason he has mentioned views of other recognized scholars in the notes. His consultation of English and German scholars has enhanced the value of his translation entitled *'The Hymns of the Rigveda'*, making it a combination of Indian tradition and modern views. Now copies of his translation of the Ṛgveda, Sāmaveda, White Yajurveda, Atharvaveda and Rāmāyaṇa are available on the internet.

Arthur Anthony Macdonell (b. Gottingen, 1854-1930) was a distinguished western scholar of Vedic Studies who worked in Oxford and Calcutta and published valuable books as Vedic Mythology, Vedic

Grammar, and also A Vedic Reader for students. He authored jointly with A.B. Keith the book named *'Vedic Index of Names and Subjects'*, a landmark in the field of Vedic studies. His translation of selected hymns from Ṛgveda is also quite popular. **Arthur B. Keith** (b. Edinburgh, 1879-1944) did English translation of several Vedic texts including Aitareya Brāhmaṇa, Kauśītaki Brāhmana and Taittirīya Saṁhitā which are excellent monuments of comprehensive scholarship. His noteworthy publication is *'Religion and Philosophy of Vedas and Upanishads'*.

2. Vedic Studies by German Scholars

The knowledge of Sanskrit in Germany was first received at the hands of Friedrich Schlegel when he went to Paris and met an English naval officer Alexander Hamilton, at that time the only person in European continent having knowledge of Sanskrit. In 1808 Friedrich Schlegel published *"Uber die Sprache und Weisheit der Indier."* Friedrich Schlegel's brother August Wilhelm Von Schlegel (1767-1845) was appointed on the chair of Indology in the University of Bonn in 1818. Wilhelm Von Humboldt (1767-1835), Franz Bopp (1791- 1867), Herman Brockhaus (1806-1877), Friedrich Rockert (1788-1866) were stalwarts who created strong traditions of Indological researches in Germany. Afterwards many scholars from Germany showed interest in Indology, Sanskrit and Vedic Studies. Some, who got famous for their contribution in Vedic studies, are to be discussed here.

Friedrich Rosan, German Scholar, (1805-1837) can be considered first to work on Vedic texts. His working place was British Museum of London. He started Latin translation of First book of Ṛgveda in 1830, on the basis of manuscript collected by H. T. Colebrooke. He followed mainly commentary of Sāyaṇa for his translation. His work stopped due to his death in 1837. This translation was measured as important because through it French, Vedic-teacher, E. Burnouf taught Vedic *Vidyā* to his students, Roth and Max Muller at Paris.

Theoder Benfey's edition of Sāmaveda was brought out in 1848. **Walter Rudolf Von Roth** (b. Stuttgart, 1821-1895) did, edition of Atharvaveda with his American pupil William Dwight Whitney. **Albrecht Weber** brought out edition of Yajurveda for the first time in 1852 along with Vājasaneyi Saṁhitā and few other Vedic texts. **Julius Eggeling** (b. Hecklingen, 1842-1918) translated whole Shatapatha Brahmana into English in five volumes which took him a time of twenty years. This is

considered a unique translation even today. **Alfred Hillebrandt** (b. Grossnaedlitz, 1853-1930) occupied an exalted position among the scholars of Vedic religion and mythology. A noteworthy characteristic of Hillebrandt's mythology was his philosophical interpretation of Vedic texts in his grand book *Veidsche Mythologie* in two volumes. The most striking feature of Hillebrandt's exposition of Vedic mythology is his affirmation that moon was the very centre of Vedic religious ideology. He did detailed interpretation of certain Vedic Gods. His other important works are on Vedic Rituals.

Leopold Von Schroeder (b.Estonia, 1851-1920), German Indologist worked on Vedic religion, and edited four volumes of Maitrāyaṇī Saṁhitā in five years with exhaustive introduction and notes in German. Beside other writings, he wrote a historical drama and translated Gītā, and Dhammapada. **Karl F. Geldner** (b.Berlin, 1852-1929), a student of Roth, was a versatile scholar of both Vedic and Avestan studies who is known for his writing on Vedic studies, and mythology. He did translation of some Rigvedic hymns with Adolf Kaegi in German language on the basis of comparative method. **Hermann Olderberg** (b. Keil, 1854-1920) is regarded as a great Indologist who was particularly interested in the study of Vedic religion and mythological research. He published *'Hymns of the Ṛgveda'* in 1888 where he translated Vedic verses on the basis of linguist method and comparative mythology. His study on Vedic gods and Vedic ritual is related with Avestan religion to some extent. **Alfred Ludwig** (1832-1910) published independent translation of complete Ṛgveda in German with useful notes and others'views by the name *'Der Ṛgveda.'* He was student of Weber, therefore followed mainly comparative linguistic as his basis for Vedic interpretation and opposed Indian method for understanding meaning of Vedic Verses.

Friedrich Max Muller (b. Dessau, 1823-1900) rather *Mokshamūlara*- the giver of the root of salvation, as the oriental tradition regards him, was a *ṛṣi* (seer) in the truest sense of the term. He is credited with the honour of being the first scholar to publish Ṛgveda, to translate a multitude of basic Sanskrit and Vedic Texts, to initiate a truly critical discussion on comparative mythology, philology and philosophy, and to write on various subjects of Indian studies. Germany had become a great centre of Sanskrit studies when Max Muller was born. During his stay in Paris in 1845, he came across Burnouf who initially implanted the idea of editing the Ṛgveda in his mind. Then Max Muller started copying the

manuscript of Ṛgveda with *Sāyaṇa-Bhāṣya* given to him by Burnouf. He worked single-handedly on Rigveda for years. He came to Oxford in 1847 and devoted himself to preparing and publishing the first complete edition of Ṛgveda with Sāyaṇa's commentary. This publication was an epoch-making event in the world history. The four volumes of Ṛgveda were brought out between 1849 and 1875. This publication is regarded as most significant event, as it initiated a meaningful dialogue between the East and West. Besides other publications, his chief work in the field of history of religion is the publication of a series of volumes under *The Sacred Books of the East.* The series comprised 51 volumes affording ample insight into the Oriental Philosophy.

These are a few important names of some German scholars who dedicated their lives for the study of Sanskrit and Indology and worked extensively in the field of Vedic interpretation, translation, edition or research, mostly with their own ideas and historical method. Their translations and interpretations are mostly literary translations so essence of Vedic wisdom seems untouched there. Even then, extensive venture of western scholars for the revival of Vedic study and research is unparallel in the history of Indological studies. It was through the publications and researches of Max Muller and other scholars that the disciplines like comparative religion, comparative mythology, and comparative philology emerged and strength was given to Indo-European linguistics.

3. Vedic Studies by French Scholars

Louis Renou (b. Paris, 1896-1966), French Indologist has contributed enormously to the field of Vedic studies. He prepared *Bibliographic Vedique* in 1931 which is almost a complete record of all writings published in the field of Vedic studies up to that time. He is of the view that there is no relation between the Indus Civilization and Vedic Civilization. He translated many passages of Ṛgveda, Atharvaveda and Yajurveda with a balance vision about Indian and western methods of interpretation.

4. Vedic Studies by Italian Scholars

Angelo de Gubernatis, Italian scholar was a comparative mythologist who worked in the later part of nineteenth century on the naturalistic interpretation of Vedic legends, fables and deities; and declared the Ṛgveda as the bible of Aryans. **Prof. Oscar Botto**, founder of Institute

of Indology and Oriental Institute at Turin is recognized as a great Orientalist of our times who prepared many oriental editions and Italian translations of Sanskrit texts with the help of other scholars.

5. Vedic Studies by Dutch Scholar

Jan Gonda (b.1905-1991) from Netherlands is regarded as the Max Muller of twentieth century. He is credited to be a serious scholar who went deep into Vedic Literature. He wrote several books mainly related to Vedic religion, mythology, linguistics, and culture. He thought that it is wrong to speak of 'secular' hymns in Ṛgveda, for, broadly speaking, there is nothing exclusively 'secular' or 'profane' in the modern sense of the words. He was elected as President of All India Oriental Conference, Poona but could not come to attend.

6. Vedic Studies by American Scholars

Maurice Bloomfield was born on 1855, at Austria, but got education in Chicago, USA from his childhood. He was keen to know comparative philology and Indology, particularly the Vedas. He traveled to Europe for his studies in the influence of Albrecht Weber, Hermann Oldenberg, H. Zimmer etc. His study of Atharvaveda began with interpretation and translation of certain Atharvavedic Hymns for the '*Sacred Book of the East'* series (1890). *Vedic Concordance* (1910) and *Rigvedic Repetitions* (1916) are his scholarly contribution to Vedic studies. Bloomfield is regarded as great Atharvanist of his times. In modern times, **Dr. David Frawley, Dr Robert P. Goldman** and few others are well recognized scholars in USA who are sincerely engaged in Indological and Vedic researches.

7. Vedic Studies by Other European Scholars

In many European universities, departments or centers are found today for East-Asian Studies, Religious studies, and Eastern Languages studies where Indian or Vedic studies are included to some extent. Among the scholars working in the field of Indian religion, Vedic and Sanskrit subjects, **Dr. Koenraad Elst** from Leuven (Belgium); **Dr Nicholas Kazanas** from Athens (Greece); and **Dr. Milena Bratoeva** from Bulgaria are few names to be mentioned who are doing sincere contribution in the field of Indology and Sanskrit by their writings and research. Western Scholars have keen interest in Yoga, Ayurveda, and the spiritual heritage

of India. The Indology Departments are established at few Universities of Europe and America. The students here promote a better understanding of Indian culture through a multidimensional study of India.

III. Conclusion

Existing translations of Vedic texts, however etymologically "accurate" are too often unintelligible or unconvincing. Neither the *'Sacred Books of the East'* nor for example such translations of the Rigveda by A. Ludwig, or Karl Geldner and of the Upanishads by R. E. Hume or Roer, recently reprinted, even approach the standards. The orthodox and traditional interpretation of the Vedas is essentially *Adhyātmic* or spiritual. In order to be able to do justice with the interpretation, and for being nearest to its true meaning, the interpreter must be in the minds of our Vedic Riśis, or at least in the state of *sthita-prajña*. It is very evident that for an understanding of the Veda, knowledge of Sanskrit, however profound, is insufficient. There are many other factors which should be clear to interpreters. Western scholars no doubt have spent infinite efforts on handling the Vedic texts and interpreting them, but they were more inclined towards its structure, history and language. When the interpretation of Vedic thought confronts them with difficulty, the language of the hymns is declared to be obscure, and most of the mystical expressions are taken to be incoherent on account of the imperfect understanding of the grammar of philosophic ideas behind them.

Finally, this brief survey shows that the Vedic study is a well-liked subject in the field of knowledge and education in western academic world. These studies have two prominent sides. Firstly, they give an idea about the deep research oriented attitude of scholars towards certain Vedic texts and their specific aspects. Especially the questions related to historicity of Vedas and origin of Vedic civilization are attracting the attention of scholars there. Secondly, these studies expose that scholars are taking interest in the practical aspects of Vedic wisdom and, therefore, interpret it in the context of present knowledge systems. Therfore, contribution of Western scholars in Vedic interpretation must be considered quite relevant to the academic world today. This small write-up is just meant to give a glimpse of the rich, vast and continuous contribution of Western Indologists in the field of Vedic studies, particularly in Vedic interpretation.

Bibliography

1. **'Vedic Studies in America'** by Shashi Tiwari, in *Vedic Studies in India And Abroad*, ed. Vachaspati Upadhyaya, Maharshi Sandipani Rashtriya Veda Vidya Pratishthan, Ujjain, 2007, pp.181-194.
2. **'Ralph T. H. Griffith'** by Shashi Tiwari, in *Kalpataruh*, ed. Radhavallabh Tripathi, Rashtriya Sanskrit Sansthan, Delhi, 2012 p. 83.
3. **'Max Muller'** by Radhavallabh Tripathi, in *Kalpataruh*, ed. Radhavallabh Tripathi, Rashtriya Sanskrit Sansthan, Delhi, 2012 p. 76-79.
4. **Vedavyakhyapaddhatayah** (Book on Vedic Interpretation in Sanskrit), Shashi Tiwari, Pratibha Prakashan, Delhi, 2014.
5. **Vedic Scholars from the West**, Madhusudan Mishra, Eastern Book Linkers, Delhi, 2003.
6. **Sanskrit Studies Outside India**, ed. K. K .Mishra, , Rashtriya Sanskrit Sansthan, Delhi, 1996.
7. **The Etymologies of Yaska**, Siddheshwar Varma, VVRI, Hoshiarpur, 1953.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ is a half yearly Refereed & Peer-Reviewed International Vedic Journal of Gurukul Kangri (Deemed to be University), Haridwar. Manuscripts should be submitted to the Editor both in Electronic Form and in Hard Copy (Walkman 901 or 905, typed on A4 size paper). Research papers of late eminent vedic scholars recommended by reviewers can also be consider for publication.

Copyright © Gurukul Kangri Deemed to be University, Haridwar.

The Advice and information in this Journal are believed to be true and accurate but the person associated with the production of the journal can not accept any legal responsibility for any errors or omissions that may be made. All disputes are subject to jurisdiction of the District Court Haridwar, Uttarakhand only -***Editor in Chief***

Contact for :-

Submission of Manuscript

Chief Editor 'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

Gurukula Kangri (Deemed to be University)

Haridwar - 249 404 Uttarakhand, INDIA

Email - dineshcshastri@gmail.com

Tel : +91-9410192541

http:/www.gkv.ac.in

For further information Mail to :

Prof. Dinesh Chandra Shastri

Chief Editor (dineshcshastri@gmail.com)

Note : *For subscription and related enquiries feel free to contact Business Manager & editor*

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
(UGC CARE listed half yearly journal)
January-June 2022

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Aims & Objectives

1. *To rectify and clarify the illusionary thoughts expressed by critics on Vedas, by referring to the existing logical proof and arguments, in Shastras.*
2. *To extract the knowledge-scientific or otherwise, hidden in Vedas.*
3. *To publish the original Vedic findings.*
4. *To prepare special edition on Vedic doctrine, containing detailed arguments for notified Vedic research outcomes.*
5. *To accelerate from Brahma to Jaimini School of Vedic thoughts for removing the illusions prevailing about Vedas.*
6. *To publish critical edition of work carried out on Vedas by citing the facts that originally existed in Vedic books, rarely available.*

उद्देश्य

1. विद्वानों द्वारा किये गये और सम्प्रति किये जा रहे वेद से सम्बन्धित भ्रमपूर्ण विचारों की शास्त्रीय प्रमाणों एवं तर्क तथा युक्ति के आधार पर समालोचना तथा तत्सम्बन्धी समाधान करना।
2. वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान के विविध पक्षों को उद्घाटित करना।
3. वेद तथा वैदिक साहित्य से सम्बन्धित मौलिक अनुसंधानात्मक लेखों का प्रकाशन करना।
4. वैदिक सिद्धान्तों पर विस्तृत विवेचनात्मक विशेषांक तैयार करना। जिनमें पूर्व लिखित एवं प्रकाशित तत्सम्बन्धी लेखों/ग्रन्थों का भी उपयोग किया जायेगा।
5. ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त ऋषियों की वैदिक विचारधारा को वेद विषयक भ्रान्तियों को दूर करने के लिए गति देना।
6. वेदविषयक ग्रन्थों की समीक्षा एवं अप्रकाशित अनुपलब्ध वैदिक ग्रन्थों के मूलपाठ का प्रकाशन करना।